वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२

विवेक ज्योति

वर्ष ५५ अंक ११ नवम्बर २०१७

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
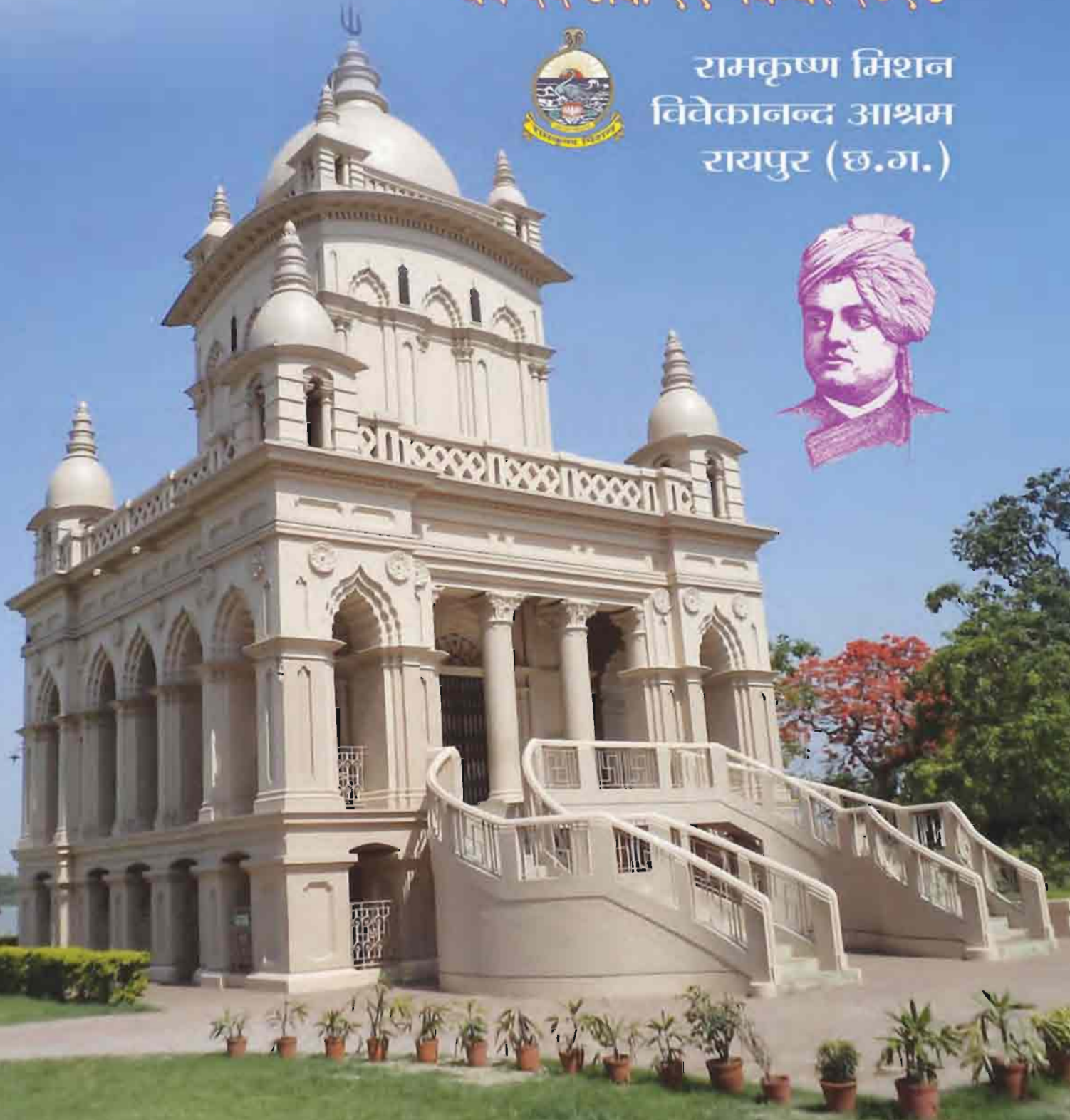
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २०१७

प्रबन्ध सम्पादक **स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक **स्वामी प्रपत्त्यानन्द**

सह-सम्पादक **स्वामी मेधजानन्द**

व्यवस्थापक **स्वामी स्थिरानन्द**

वर्ष ५५ अंक ११

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–

१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :

सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124

IFSC CODE : CBIN0280804

कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।

विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;

५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com

वेबसाइट : www.rkmraipur.org

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

नवम्बर माह के जयन्ती और त्योहार

१	स्वामी सुबोधानन्द
३	स्वामी विज्ञानानन्द
४	गुरुनानक जयन्ती
१४	बाल दिवस
३०	गीता जयन्ती

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द का यह समाधि-मन्दिर बेलूड़ मठ में स्थित है । १९०२ ई. में स्वामी विवेकानन्द की पूत-देह का अन्त्येष्टि संस्कार यहीं सम्पन्न हुआ था । मन्दिर की स्थापना २८ जनवरी, १९२४ में की गई और इसमें स्वामी विवेकानन्द की सुन्दर प्रतिमा अवस्थित है ।

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री राम सजीवन दुबे,अजीत नगर,प्रतापगढ़ (उ.प्र.)	११००/-
डॉ. बी.आर.देवांगन, कुशालपुर, रायपुर (छ.ग.)	२०००/-
कुमारी आर. शाह, गायत्री नगर, गोदिंया (महा.)	१०००/-
श्री जी.एस. मिश्रा केशकाल, कोण्डागाँव (छ.ग.)	२१००/-

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
३३३. श्रीमती त्रिवेदनी बाई विजय पाठक, पाटन, दुर्ग (छ.ग.)	गवर्नमेंट हायर सेकेण्डरी स्कूल, सम्बलपुर, बेमेतरा (छ.ग.)
३३४.	उत्तरांचल आयुर्वेद कॉलेज, पुरानी मसूरीरोड, देहरादून (उ.ख.)
३३५. श्री जी. पी. नायक, डंगनिया, रायपुर (छ.ग.)	गवर्नमेंट मीडिल स्कूल, कोदवा,वाया-बैकुण्ठ, रायपुर (छ.ग.)
३३६. सुश्री लेखा राय, आर. के. पुरम, मुजफ्फरपुर (बिहार)	रमेशरानी अग्रवाल बालिका हाई स्कूल, अंडीगोला, मुजफ्फरपुर
३३७. ,, ,,	मारवाड़ी हायर सेकण्डरी स्कूल, चन्दवारा, मुजफ्फरपुर (बिहार)
३३८. ,, ,,	हरिसभा मीडिल स्कूल, मुजफ्फरपुर (बिहार)
३३९. ,, ,,	गवर्नमेंट कॉलेज, चौपासनि हाऊसिंग बोर्ड, जोधपुर (राज.)
३४०. ,, ,,	गवर्नमेंट इंदिरा गाँधी होम साईस कॉलेज, शहडोल (म.प्र.)
३४१. ,, ,,	शहीद कैप्टन विक्रम बत्रा गवर्नमेंट कॉलेज, कांगड़ा (हि.प्र.)
३४२. ,, ,,	हीरालाल रामनिवास पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, संत कबीर नगर
३४३. ,, ,,	आर्ट, साईस एंड कॉमर्स कॉलेज, पोस्ट-इंदापुर, पुणे (महा.)
३४४. ,, ,,	स्वामी योगानंद गिरि कॉलेज, कोकराझार, बीटीसी (असम)
३४५. ,, ,,	वैखोम मणि गर्ल्स कॉलेज, थोबॉल ओक्राम, (मणिपुर)
३४६. श्री नुनिया राम मास्टर, चंडीगढ़	स्वामी विवेकानन्द पॉलीटेक्निक कॉलेज, पटियाला (पंजाब)
३४७. ,, ,,	गवर्नमेंट पॉलीटेक्निक कॉलेज, पी.ओ.आर. एडं एस.अमृतसर
३४८. ,, ,,	गवर्नमेंट पॉलीटेक्निक कॉलेज फॉर गर्ल्स, मजिठा रोड, अमृतसर
३४९. श्री प्रकाश चन्द्र गुप्ता, इन्दर एनक्लेव, दिल्ली	शिव शक्ति मंदिर, शक्ति आपर्टमेंट,सेक्टर-९, रोहिणी, दिल्ली
३५०. ,, ,,	डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज, वाराणसी (उ.प्र.)
३५१. ,, ,,	श्री बिंजानी सिटी कॉलेज, उमरेड़ रोड, नागपुर (महाराष्ट्र)
३५२. ,, ,,	एम.आर.एम. कॉलेज, लालबाग, दरभंगा (बिहार)
३५३. श्रीमती रूपाली सरकार, नेहरू नगर, भिलाई (छ.ग.)	वीरांगना अवन्तीबाई गवर्नमेंट कॉलेज, छुईखदान (छ.ग.)
३५४. श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकर नगर, रायपुर (छ.ग.)	गवर्नमेंट कॉलेज, पोस्ट-हिण्डोन सिटी, सवाई माधोपुर (राज.)

वर्ष ५५ नवम्बर २०१७ अंक ११

सर्वे देवा अवन्तु मा

ॐ त्रया देवा एकादश,
त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः
सवे, देवा देवैरवन्तु मा ।।

(शुक्ल य. २०/११)

भावार्थ – विविध ऐश्वर्यशाली निखिल अनिष्टदोष-निवारक, सकल इष्टसिद्धि सम्पन्नकर्ता – वसु, रुद्र, आदित्य आदि तैंतीस देव जिनके प्रधान नायक बृहस्पति देव हैं, जो जगत-उत्पादक सविता, विश्वेश्वर महादेव की आज्ञा में सदा विद्यमान रहते हैं, वे सभी देवता सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशमान अपने शुभ प्रभावों के द्वारा मेरी रक्षा करें ।

ॐ शिवेन वचसा त्वा,
गिरिशाच्छावदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगद्
अयक्ष्मं सुमना असत् ।।

(शु.य. १६/४, तै.सं ४/५/१)

हे गिरीश ! हे शंकर ! हम आपकी प्रसन्नता हेतु सुन्दर स्तुतियों से आपसे प्रार्थना करते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत रोग-दरिद्रता-द्वेष आदि अनेको दोषों से मुक्त हो और पवित्र, उदार और सुखी हो, ऐसी कृपा कीजिये ।

पुरखों की थाती

भो दारिद्र्यं नमस्तुभ्यं त्वत्प्रसादातः सिद्धोऽहं।
पश्याम्यहं जगत् सर्वं न मां पश्यति कश्चन ।।५७३।।

– हे निर्धनता, तुम्हारी कृपा से मैं सफल हो गया हूँ। अब मैं तो सारे जगत् को देखता हूँ, पर मुझे कोई भी नहीं देखता ।

मूर्खस्य पंचचिह्नानि गर्वो दुर्वचनं तथा ।
क्रोधश्च दृढवादश्च परवाक्येष्वनादरः।।५७४।।

– मूर्ख के चरित्र में पाँच लक्षण दीख पड़ते हैं – अहंकार, कटु वाक्य, क्रोध, हठधर्मिता और दूसरों के मत का अनादर ।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।।५७५।।

– दुष्ट लोगों के मन में एक बात होती है, कहते कुछ और हैं और कर्म उससे भी अलग होता है; परन्तु महात्मा लोग जो सोचते हैं, वही कहते हैं और उसी के अनुसार कर्म करते हैं ।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ।।५७६।।

– पाँचों इन्द्रियों में यदि एक भी अनियंत्रित रहे, तो जैसे छिद्र वाले मशक से भिश्ती के जाने बिना ही सारा जल बह जाता है, वैसे ही वह इन्द्रिय सारे ज्ञान का नाश कर देती है । (मनु.)

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ।।५७७।।

– यदि व्यक्ति अपनी सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले, परन्तु अपनी जिह्वा पर विजय न पा ले, तब तक उसे जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रसना को जीत लेने पर व्यक्ति की सारी इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं ।

विविध भजन

कब तक आओगे प्रभुजी !

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

कब तक आओगे प्रभुजी, कब तक आओगे ।
मैं तो खोज खोज के हारा, बोलो कब तक आओगे ।
मैं तो सारा जीवन निहारा, बोलो कब तक आओगे ।।
मैं तो जीवन भर पुकारा बोलो कब तक आओगे ।।

कितने पापी-तापी तारे, कितने दीन-हीन उद्धारे ।
अब कब इस अगुणी सुत को भी गले लगाओगे ।।

सुर-नर-किन्नर-गणिका तारे, दुखियों की सुनी बारम्बारे।
अबकी मेरी बारी है, बोलो कब तक आओगे ।।

अंका तारे बंका तारे, सदन कसाई को भी तारे,
वध कर रावण बालि तारे, सखा बना सुग्रीव उबारे ।
सब जीवों को भवसिन्धु से कब तक तारोगे ।।

पत्थर बनी अहिल्या तारे, पशु-बानर सब सेना तारे,
गुह चाण्डाल निषाद को तारे, गिद्धराज जटायु तारे ।
इसी तरह कर कृपा मुझे भी कब तक तारोगे ।।

कहीं राम बने, कहीं कृष्ण बने, कबहुँ विट्ठल रूप धरे।
रामकृष्ण, विट्ठल बनकर बोलो कब तक आओगे ।।
सेवक श्रीहनुमान सहित कब दरस दिखाओगे ।।

शंकर श्रीगिरिनाथ

शंकर श्रीगिरिनाथ प्रभुश्री
नित्य विराजत चित्रसभा में ।। शंकर श्री...
भस्म त्रिनेत्र गले रुंडमाला ।
भूतन के संग नाचत भृंगी ।। शंकर श्री ...
तनन तकिट तक श्रुतिगति राजे ।
पद्मनाभ मन कमल विराजे ।। शंकर श्री...

रघुनाथजी हों जिसकी

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

रघुनाथजी हों जिसकी बिगड़ी बनानेवाले ।
क्या फिर बिगाड़ सकते उसका जमाने वाले ।।
कैसा भी वक्त आये परवाह क्यों करेगा ।
रखवाले बन के बैठे हनुमन्त गदावाले ।।
बल अपना कुछ नहीं है, अभिमान क्यों करें हम ।
रघुवर कृपा का बल है, जो चाहे आजमा ले ।।
निन्दा हो चाहे स्तुति कुछ फर्क नहीं पड़ता ।
अलमस्त हो गये जो पीकर के प्रेम प्याले ।।
'राजेश' पतन कर दे कलियुग की क्या है ताकत ।
मैया ही जिसको अपनी गोदी में जब उठाले ।।

तेरे नाम अनेक

संत तुकड़ोजी महाराज

हर देश में तू हर वेष में तू,
तेरे नाम अनेक तू एक ही है ।
तेरी रंगभूमि यह विश्व भरा,
हर खेल में मेल में तू ही तू है ।।
सागर से उठा बादल बनकर,
बाद से फटा जल होकर के ।
फिर नहर बना नदियाँ गहरी,
तेरे भिन्न प्रकार तू एक ही है ।।
मिट्टी से भी अणु परमाणु बना,
यह विश्व जगत का रूप लिया ।
कहीं पर्वत, वृक्ष विशाल बना,
सौन्दर्य तेरा तू एक ही है ।।
यह दृश्य दिखाया है जिसने,
वह है गुरुदेव की पूर्ण दया ।
तुकड्या कहे और न कोई दिखा,
बस तू और मैं सब एक ही है ।।

सम्पादकीय

अम्ब त्वामनुसन्दधामि

भारतीय दर्शन धर्मप्राण और भारतीय संस्कृति धर्मपरायणा है। भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व ऋषि-मुनियों द्वारा देवभाषा संस्कृत में प्रतिपादित किये गये हैं। उन्हीं के द्वारा प्राचीन काल से जन-मानस को नैतिक, आध्यात्मिक और भौतिक विकास के मूल मन्त्र शताब्दियों से प्राप्त होते रहे हैं। कहा भी गया है – **भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा** – अर्थात् भारत की प्रतिष्ठा संस्कृत और संस्कृति से है। यहाँ प्रतिष्ठा का अर्थ सम्मान तो होता ही है। इसका एक दूसरा अर्थ है आधार। इसका तात्पर्य है कि संस्कृत और संस्कृति भारतीय सभ्यता और भारतीय जन-जीवन के आधार हैं। इन्हीं से भारत का उज्ज्वल अस्तित्व अक्षुण्ण है। इनसे ही देदीप्यमान गौरवशाली भारत की सत्ता विद्यमान है। सनातन धर्म, जो हमारी संस्कृति की आत्मा है, उसके समस्त ग्रन्थ, वेद, पुराण, उपनिषद, साहित्य शास्त्र आदि संस्कृत में हैं और वे विश्व को शताब्दियों से शिक्षा देते चले आ रहे हैं।

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण, व्यासरचित महाभारत, कालिदास प्रणीत रघुवंश और कुमारसम्भव, महाकवि माघ का शिशुपाल-वध, अश्वघोष का बुद्धचरित – ये महाकाव्य हैं। हिन्दी साहित्य में भी गोस्वामी तुलसीदास रचित श्रीरामचरितमानस, चन्दवरदायी का पृथ्वीराज रासो, मैथिलीशरण गुप्त का साकेत और भोजपुरी में सिरीमद करुनाकर का आखर और पं व्रतराज दूबे 'विकल' रचित कुँवरसिंह महाकाव्य है।

गीता का प्रादुर्भाव

इन प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं – रामायण और महाभारत। रामायण में श्रीराम की जीवन-लीला और महाभारत में श्रीकृष्ण की जीवन-लीला का मुख्य प्रतिपादन किया गया है। महाभारत का ही अंश गीता है। गीता की उत्पत्ति मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष एकादशी को हुई। इस दिन को गीता जयन्ती के रूप में मनाया जाता है। गीताजी का प्रादुर्भाव द्वापर युग में महाभारत की रणभूमि में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से हुआ। गीता भगवान की साक्षात् वाणी-विग्रह है। भगवद्गीतामाहात्म्यम् में लिखा है –

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में दोनों सेनाओं के बीच में रथारूढ़ भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देकर उनके मोह और भ्रान्ति का नाश किया, उनमें नवीन शक्ति का संचार किया, उन्हें सद्धर्म, सन्मार्ग और कर्तव्य-पथ पर अग्रसर कर युद्ध करने को प्रेरित किया तथा उनकी सब प्रकार से रक्षा करते हुए उन्हें विजयश्री प्रदान की। गीता केवल सैद्धान्तिक ग्रन्थ नहीं, यह पूर्णत: व्यावहारिक है। इसलिये भगवद्गीता का इतना महत्त्व है, इसलिये यह जन-जन में व्याप्त है, इसलिये यह लोकमानस का हृदयहार है।

गीता माता हैं

किसी भी महाकाव्य को माता की संज्ञा नहीं दी गयी है। किन्तु महाभारत का ही अंश 'श्रीमद्भगवद्गीता' को माता की संज्ञा दी गयी है – **अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्** – हे भवरोगनाशिनी माता भगवद्गीते ! मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ, मैं तेरा ध्यान करता हूँ। गीताजी की आरती में अन्त में भक्तवृन्द प्रार्थना करते हैं –

दयासुधा बरसावनि मातु ! कृपा कीजै।
हरिपद प्रेम दान कर अपनो कर लीजै।।

अब प्रश्न उठता है कि भगवद्गीता को माता क्यों कहते हैं? क्या विशेषता है इसकी कि ७०० श्लोकवाली पुस्तिका को माता से अभिहित किया गया? इस सम्बन्ध में मैं सर्वप्रथम स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज का एक दृष्टान्त देना चाहता हूँ। वे कहते हैं – "गीता कामधेनु है और भगवान कल्पवृक्ष हैं। तुम जो भी भावना लेकर इसके पास पहुँचोगे, वह पूरी होगी। गीता माता से कहो कि माँ ! हमारा कर्तव्य बताओ। वह कहेगी, बेटा ! कर्म करो, तुम्हारा यही कर्तव्य है। लेकिन यदि तुम्हारी रुचि कर्म में नहीं है और तुम कहो, मैं तो प्रेम ही करूँगा, तो गीता मैया कहेगी, अच्छा प्रेम ही करो। यदि तुम कहो कि मैं तो आँख बन्द करके योगाभ्यास करूँगा, तो कहेगी, ठीक है, वैसा करो। यदि तुम कहो, मैं तो घटाकाश, मठाकाश का प्रमाण-मूलक विचार करूँगा, उससे प्रमा होगी और भ्रम की निवृत्ति होगी, तो वह कहेगी, हाँ, ऐसा ही करो। यह माँ है। जिस बेटे की जैसी रुचि होती है, उसकी वैसी पूर्ति करती है। इसलिये भक्त बोलते हैं, 'अम्ब त्वामनुसन्दधामि'

– गीता, तुम मेरी मैया है। मैं तेरी ओर देख रहा हूँ। मैं तेरा अनुसन्धान कर रहा हूँ।''

भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने बंकिमचन्द्र से वार्तालाप में कहा था, ''क्या सभी लोग पुलाव-कलिया खाकर पचा सकते हैं? घर में अच्छी चीज बनने पर माँ सभी बच्चों को पुलाव-कलिया नहीं देती। जो कमजोर है, जिसे पेट की बीमारी है, उसे सादी तरकारी देती है।'' जैसे माँ अपने सभी बच्चों का समान रूप से ध्यान रखती है, जिसकी जो रुचि है, वही उसे खाने-पहनने को देती है, वह कभी किसी के साथ भेद-भाव नहीं करती, वैसे ही हमारी गीता माता हैं। इनके उपदेश देश-काल-जाति-धर्म के परे सार्वभौमिक हैं। जैसे माँ अपना स्वभाव, कर्म, गुण, त्याग, आग्रह, अपनी रुचि आदि सब कुछ छोड़कर सन्तानों से समान प्रेम करती है, सन्तान की प्रसन्नता में प्रसन्न रहती है, वैसे ही गीता माँ सम्पूर्ण मानवता के लिये, उनकी रुचि, क्षमता और स्वाभावानुसुार साधन सामग्री प्रस्तुत करती हैं और लक्ष्य प्राप्ति में सहायता करती है, जीवन-रणभूमि में विजयश्री प्रदान कराती है।

श्रीमद्भगवद्गीता देश-काल, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय मतवादों से अतीत विश्वव्यापी सार्वजनीन ग्रन्थ है। इसके सन्देश देश-कालातीत होने के कारण सर्वजनोपयोगी और शाश्वत हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में १८ अध्याय हैं – अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्या-राजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुर-सम्पद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, मोक्षसंन्यासयोग। इन अध्यायों में वर्णित तत्त्व मानो गीता माता के द्वारा अपने विभिन्न मनोभूमि वाले पुत्रों के सर्वांगीण विकास हेतु प्रदत्त साधन सामग्री हैं। माँ ने जो जैसा है, जहाँ है, जिसकी जैसी रुचि है, जिसकी जितनी क्षमता है, उसके योग्य ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग आदि साधना प्रणाली को निरपेक्ष रूप से, उदात्तभाव से संतान-वात्सल्यवशात् प्रदान किया है।

भगवद्गीता गृहस्थों, संन्यासियों, छात्रों, शिक्षकों और जन-मानस को आदर्श प्रबुद्ध नागरिक बनाने और सभी स्तर के लोगों की चेतना का विकास-मार्ग प्रशस्त करती है, उन्हें शान्ति, प्रेम और आनन्दमय पथ का मार्गदर्शन करती है। सैनिकों हेतु निष्ठावान होने और राष्ट्र हेतु युद्ध कर विजयश्री प्राप्त करने की प्रबल प्रेरणा देती है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक, सभी क्षेत्रों में विकास का मूल साधन – एकाग्रता के सूत्र का दिग्दर्शन है, मानव की नैतिकता की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक विकास हेतु संयम, त्याग-तपस्या के तत्त्वोपदेश हैं। यतियों हेतु तपोमय ध्यानपरायण आत्मसंयम जीवन का निदर्शन है, भक्तिमार्गावलम्बियों के लिये भक्तिमार्ग के उच्चतम सोपानों की चर्चा है। गीता माता ने संसारानल से तप्त समस्त जीवों की मुक्ति का मार्गदर्शन किया है और जीव की सदा रक्षा करने एवं परमानन्द में प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान द्वारा लिये गये संकल्प को सबके समक्ष प्रकट किया है –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता हमारी प्रेममयी वात्सल्यमयी माँ हैं। गीता माता को गंगा की संज्ञा दी गई –

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

जैसे गंगा-जल का पान कर व्यक्ति सर्वपापविनिर्मुक्त और जन्म-बन्ध-चक्र से मुक्त हो जाता है, वैसे गीता-गंगा का पान कर, गीता के आदर्शों को आत्मसात् करने से पुनर्जन्म नहीं होता, वह मुक्त हो जाता है।

गीता विवेकजाग्रतकारिणी, भवरोगविनाशिनी, तत्त्वज्ञान-दायिनी, ज्ञान-भक्तिप्रदायिनी, शोक-ताप-भयहारिणी है। यह दानववृत्ति-नाशिनी, दैववृत्तिविवर्धिनी है। यह अज्ञाननाशिनी, सदा सुमंगलकारिणी और परमानन्दप्रदायिनी है। माँ भगवती गीता की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं –

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ।।
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च।।

जो गीता का स्वाध्याय करता है, वह भयशोकादि से मुक्त हो विष्णुपद को प्राप्त करता है। उसके पूर्वजन्मों के सकल पााप नष्ट हो जाते हैं। ऐसी महीयसी गीता माता हम सबका मंगल करें। ○○○

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (११)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

१८९८, मई

... (स्वामीजी तथा निवेदिता के बीच) आन्तरिक संघर्ष बढ़ता गया और हमारी टोली के सबसे वरिष्ठ सदस्यों में से एक के मन में आया कि आचार्यदेव को विश्राम तथा शान्ति की आवश्यकता है। स्वामीजी ने विस्मयपूर्वक अनेकों बार जीवन की यातनाओं का उल्लेख किया और उनके निवारण की आवश्यकता के अनेक लक्षण दिखाई पड़े। इस विषय में उन्होंने एक-दो बातें कही थीं, जो अल्प होने पर भी यथेष्ट थीं। कुछ घण्टों बाद वे आकर बोले, ''मुझे निर्जनवास की बड़ी इच्छा हो रही है, मैं एकाकी वन में जाकर शान्तिलाभ करूँगा।''

इसके बाद ऊपर की ओर देखते हुए उनकी दृष्टि उदीयमान चन्द्रमा पर जा टिकी और वे कहने लगे, ''मुसलमान लोग शुक्लपक्ष के चाँद को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते हैं। आओ हम भी इस नवीन चन्द्रकला के साथ नवजीवन आरम्भ करें।'' यह कहकर उन्होंने अपनी मानसकन्या को खुले-दिल से आशीर्वाद दिया और कन्या ने भी समझ लिया कि स्वामीजी के साथ उसका पुराना द्वन्द्वभाव से युक्त सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका है। परन्तु वे बिल्कुल भी नहीं जान सकीं कि उसका स्थान एक नवीन तथा गहनतर सम्बन्ध ने ले लिया है; उन्हें केवल इतना ही बोध हुआ कि वह क्षण अत्यन्त अद्‌भुत तथा मधुमय था।

इसी प्रकार उस संघर्ष का अवसान हुआ और इसके बाद से उस शिष्या के हृदय में स्वामीजी के हर मत एवं विचार के लिए स्थान हो गया; प्रथम दृष्टि से चाहे वे जितने भी असम्भव या अरुचिकर क्यों न लगें, उन्हें स्वीकार करने के बाद फुरसत के समय उन पर विचार करके अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता था।

१८९८, २५ मई

जिस दिन वे गये, वह बुधवार था। शनिवार को वे लौट आये। पहले भी वे प्रतिदिन दस घण्टे वन की निर्जनता में बिताया करते थे, परन्तु रात को अपने तम्बू में लौट आते थे। उस समय चारों ओर से लोग उन्हें इस प्रकार घेर लेते कि उनका भावप्रवाह भंग हो जाता और इसी कारण उन्हें इस प्रकार पलायन करना पड़ा था। अब उनके मुखमण्डल से ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। वे यह देखकर सन्तुष्ट हुए कि अब भी वे नंगे पाँव भ्रमण करने में सक्षम, शीत-उष्ण तथा स्वल्पाहार में सन्तुष्ट रहनेवाले पुराने संन्यासी ही हैं; पाश्चात्य देशों का निवास उन्हें बिगाड़ नहीं सका है। यह अनुभव तथा और भी जो कुछ उन्हें इन कुछ दिनों के दौरान प्राप्त हुआ था, वह उस समय के लिए पर्याप्त था और हम लोग श्री सेवियर के गुलाब के पौधों से भरे उद्यान में युकेलिप्टस वृक्षों के नीचे बैठे कृतज्ञता एवं शान्ति से परिपूर्ण उनका मुखमण्डल देख आये।

* * *

इसके बाद अब हम फिर पत्रों से उद्धृत करते हैं –

७ अगस्त, १८९८, श्रीमती हेमण्ड को

हम लोग श्रीनगर की ओर जा रहे हैं। कौंसिल की पत्नी (अमेरिकी वाणिज्य-दूत श्री पैटरसन की पत्नी, जो स्वामीजी की विशेष भक्त थी) के थोड़ा आगे अपने पति के पास चले जाने के कारण अब मेरा एक पूरे नाव पर अधिकार है। स्वामीजी की नौका कुछ दूरी पर है। उसके ठीक पीछे श्रीमती बुल और मिस मैक्लाउड की नौका है, जिसमें हम लोगों का खाना-पीना होता है। ... नदी दर्पण के समान है, धीमी गति से चलती नौका पर मन्द-मन्द वायु का स्पर्श होने से लगता है मानो यह स्वर्ग है। कुछ सप्ताहों के भीतर यह सब समाप्त हो जाएगा। मेरे लिये दिलासा की एकमात्र यही बात होगी कि मैंने इसके प्रत्येक क्षण को अपने हृदय की कृतज्ञता से भर रखा था। ...

मैं स्वामीजी के विषय में विभिन्न लोगों की धारणाओं

पर विचार करती हूँ। तुम्हारे लिये वे गुरु हैं, मेरे लिये राजा हैं, श्रीमती बुल के लिये वे मरियम की गोद में शिशु ईसा हैं। ये सारे भाव कितने अद्‌भुत हैं! विशेषकर शिशु के साथ उनका सादृश्य कितना स्वाभाविक है!

अब मैं तुम्हें जो कुछ कहूँगी, उससे तुम चौंक उठोगी। मैं एक सप्ताह के लिये हिमालय में – १८००० फुट की ऊँचाई पर चली गयी थी! स्वामीजी के साथ हिमनद देखने गयी थी, बाहरी लोगों के लिये इतना जानना ही काफी होगा, बाकी अंश न जानने से भी चलेगा। वस्तुत: हम लोग तीर्थयात्रा करने अमरनाथ की गुफा में गये थे, जहाँ स्वामीजी मुझे विशेष रूप से शिव के समक्ष समर्पण करने को उत्सुक थे।

स्वामीजी के लिये यह बड़ा ही गम्भीर क्षण था। यद्यपि वे गुफा में दो ही मिनट थे, परन्तु वे पूरी तौर से अपने आप में डूब गये, इसके बाद वे जल्दी से बाहर निकल आये कि कहीं वे भावों से अभिभूत न हो जायँ। वे पूरी तौर से थक भी गये थे; हृदय-यंत्र दुर्बल होने के बावजूद उन्हें पैदल ही बड़ी लम्बी तथा खतरनाक चढ़ाई पार करनी पड़ी थी। परन्तु उसके बाद से उनके विश्वास, साहस और आनन्द का कोई अन्त न था। वे बोले कि शिव ने उन्हें अमरत्व का वर दिया है, अब उनकी केवल स्वेच्छा से ही मृत्यु हो सकेगी। मैं उनके साथ वहाँ जा सकी, इसके लिये मेरे आनन्द की सीमा नहीं है। निश्चय ही यह सदा-सर्वदा के लिये मेरी स्मृतियों में अंकित हो गया है; और उन्होंने सचमुच ही शिव के समक्ष मुझे उत्सर्ग कर दिया था, ... उनके मुख से यह बात सुनने के बाद से मैं बड़ी तेजी से हिन्दू भावों में अनुप्राणित होती जा रही हूँ।

मैं उनकी अनुभूति की गहराई तथा तीव्रता पर अत्यन्त आह्लादित हूँ, परन्तु प्रिय नेल, तुम जरा मेरी भयंकर पीड़ा पर भी तो विचार करो – मैं जिनकी पूजा करती हूँ, वे अन्तर्जगत् में पूर्ण होकर विद्यमान हैं, जबकि मुझे बाहर से रूप-दर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। स्वामीजी उस अनुभूति को मेरे लिये जीवन्त बना सकते थे, परन्तु वे स्वयं में ही डूबे रहे।

अब भी जब मैं मुड़कर उस समय की ओर देखती हूँ, तो मेरा हृदय भयंकर क्षोभ तथा निराशा के अन्धकार में डूब जाता है। परन्तु जानती हूँ कि यह मेरे ही दोष के कारण है, क्योंकि स्वामीजी ने मुझे पूरी तौर से क्षमा कर दिया है और विचित्र रूप से मैं उनके तथा ईश्वर के निकटतर हो गयी हूँ। परन्तु खोये हुए अवसर की कड़वाहट का अन्त कहाँ है – ऐसा सौभाग्य अब जीवन में शायद न भी आये। मेरा मन क्षोभ तथा नाराजगी से आच्छन्न था और जब वे कहने जा रहे थे, मैं ही नहीं सुनना चाहती थी।

प्रिय नेल, मुझे ऐसा महसूस हो रहा है कि तुम्हारे साहसी प्राणों में मुझे सांत्वना का आश्रय मिलेगा, इसीलिये तुमसे कह रही हूँ – यदि मैं उनके समक्ष बेसुरी होकर नहीं बजती! यदि मैं थोड़े धैर्य तथा सहानुभूति के साथ इस पूरे घटनाक्रम का हिस्सा हो पाती! परन्तु जो हो गया, उसे लौटाया तो जा नहीं सकता। सांत्वना की बात केवल इतनी ही है कि जो हानि हुई, वह मेरी ही हुई, परन्तु कितनी विशाल क्षति!

देखो, मैंने उनसे कहा था कि यदि वे 'गुरु' शब्द को वास्तविकता में परिणत करना नहीं चाहते, तो फिर उन्हें याद रखना चाहिये कि हम आपस में सामान्य मनुष्य के अतिरिक्त और क्या हैं और मैंने उनका तिरस्कार करते हुए स्वयं को एक कठोर आवरण में समेट लिया था।

परन्तु वे अपने मधुरतम मनोभाव में थे – जरा भी नाराज नहीं थे – सदा मेरी सुख-सुविधा की ओर ध्यान दे रहे थे। लगता है कि उन्होंने सोचा था कि मैं थकी हुई हूँ। वे अपने विषय में ज्यादा कुछ नहीं बोल पा रहे थे। अगले दिन जब हम डेरे पर लौट आये, तो वे बोले, "मार्गट, वह वस्तु देने की क्षमता मुझमें नहीं है – मैं रामकृष्ण परमहंस नहीं हूँ।" अद्‌भुत! परम अचेतन विनम्रता!

परन्तु तुम जानती हो कि राष्ट्रीय संस्कारों की भिन्नता भी इस अपरिहार्य दु:खभोग का एक कारण है। हमारा आयरिश स्वभाव सब कुछ प्रकट कर देता है, परन्तु हिन्दू कभी वैसे प्राकट्य की कल्पना तक नहीं कर सकता। स्वामीजी गुरुगिरी के विषय में कितना संकोच करते हैं, जबकि मैं सर्वदा वही चाहती हूँ, आदि आदि। यही पर्याप्त स्वार्थपरता है। खैर, याद रखना, मैं बाहर के असंख्य लोगों से कहूँगी कि मैं अमरनाथ गयी थी; परन्तु तुमसे जो बातें कही, उन्हें किसी से नहीं कहूँगी। तुम भी इस तीर्थयात्रा के विषय में – मैं दृश्य देखने गयी थी – के सिवाय असल बात किसी के समक्ष प्रकट नहीं करोगी। **(क्रमशः)**
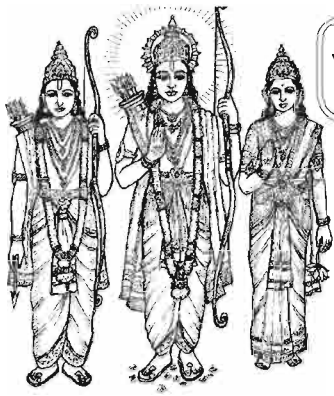
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (३/३)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

मुझे लगता है कि सेवा से तुम्हें संतोष नहीं होता था, सेवा बँट जाती थी। तुम सोचते थे कि यदि मुझे ही सारी सेवा मिल जाती, तो कितना अच्छा होता। तो प्रभु ने कहा कि अच्छा, चलो वन में, अब सारी सेवा तुम्हीं करना। वहाँ सेवा बाँटने वाला कोई नहीं होगा। माँ ने सारा अर्थ बदल दिया। देखो तो, तुम कितने आनन्द में जा रहे हो, अयोध्या में रहोगे माता-पिता के पास और साथ-साथ शब्द क्या कहा? एक शब्द में, एक नन्हें से वाक्य में उन्होंने कितनी बड़ी बात कह दी –

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही।।२/७३/२

श्रीसीताजी के लिये केवल वैदेही कहा, वे तुम्हारी माता हैं। पिता श्रीराम के साथ उन्होंने एक शब्द जोड़ दिया। बोले, तुम्हारे पिता राम हैं, जो हर प्रकार से स्नेही हैं। इसमें संकेत है। महाराज श्रीदशरथ को पिता मानोगे कि श्रीराम को पिता मानोगे? महाराज श्री दशरथ 'सब भाँति सनेही' बिल्कुल नहीं हैं। क्यों? बोलीं, जिन्होंने सत्य के नाम पर राम को छोड़ दिया हो, 'मैं सत्यवादी कहलाऊँ' वे मेरी दृष्टि में कोई प्रेमी नहीं हैं। ऐसे पिता को पिता मानकर क्या करोगे, जो आज इतना प्रेम करता है और कल छोड़ दे।

पर राम तो इतने स्नेही हैं – 'सब भाँति सनेही'। प्रेमी तो श्रीराम हैं, जो कभी किसी का परित्याग नहीं करते। अब इसकी व्याख्या करें, तो उनका इतना स्नेह जीव के प्रति है कि किसी भी स्थिति में उसका परित्याग नहीं करते। इसीलिये तो गीतावली रामायण में यह बात आई कि कौशल्याजी ने यह कहा कि मैं वन जाने के लिये तुम्हें इसलिये नहीं कहूँगी कि तुम्हारे पिता ने आदेश दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि मैं यह बिल्कुल नहीं मानती कि तुम्हारे पिता ने सत्य की रक्षा के लिये तुम्हें वन जाने के लिये कहा, इसलिये तुम्हें सत्य की रक्षा के लिये वन जाना चाहिये। बड़ा अद्भुत वाक्य है, आप लोगों में से जिन लोगों ने गीतावली रामायण पढ़ा होगा। कौशल्याजी ने कहा कि राम, सत्य बहुत बड़ी वस्तु हो सकती है लेकिन, एक नियम है न ! जब कोई विशिष्ट सुख, प्रसन्नता का अवसर होता है, तो न्योछावर किया जाता है। किसी वस्तु को न्योछावर करके उसे किसी व्यक्ति को दे देते हैं। जिसमें जितनी शक्ति होती है, उतना वह न्योछावर करता है। कौशल्या अम्बा ने कहा कि मैं तो यह मानती हूँ कि महाराज दशरथ के स्थान पर अगर मैं होती, तो यह जिस सत्य की इतनी महिमा है, उसको मैं क्या करती? बोलीं – जिस सत्य की महिमा का इतना गान किया है वेद ने, उस सत्य को तुम पर न्योछावर करके मैं फेंक देती। तुम्हारे समक्ष इस सत्य का कोई महत्त्व नहीं है। क्यों? व्याख्या कर दिया। मैं कैसे उस सत्य को महत्त्व दूँ –

बारौं सत्य बचन श्रुति-सम्मत, जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे। (गीतावली, अयोध्याकाण्ड, २/१)

वह सत्य, जो परम सत्य राम को दूर कर दे, वह किस काम का सत्य होगा? राम को दूर करने वाला कभी सत्य होगा? राम को दूर करने वाला सत्य, सत्य नहीं, वह असत्य होगा। रामायण में बार-बार यह बात दुहराई गई। वह योग, योग नहीं है, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है, जो राम से प्रेम न कराता है –

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू।
जहँ नहिं राम पेम परधानू।। २/२९०/२

और वह क्या है ? गुरु वशिष्ठ ने यही कहा, अगर वह योग राम से योग कराता है, राम से प्रेम कराता है, तो वह योग है, नहीं तो वह कुयोग है। वह ज्ञान, जो व्यक्ति के अन्त:करण में ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति कराकर व्यक्ति

को अभिमान से मुक्त करता है, वह सच्चा ज्ञान है। वह धर्म जो व्यक्ति के अन्त:करण को निर्मल बनाकर व्यक्ति को ईश्वर तक पहुँचाता है, वह धर्म धर्म है। गुरु वशिष्ठ ने तीनों की व्याख्या बदलते हुए कहा –

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू।
जहँ नहिं राम पेम परधानू।। २/२९०/२
सो सुख करमु धरमु जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। २/२९०/१

जो लक्ष्य से दूर बना दे, उसका तो त्याग करना ही पड़ेगा। चाहे वह कितना ही बढ़िया हो। मान लो आपको जाना है दिल्ली और आपको किसी ऐसी गाड़ी में बिठा दें, जो बड़ी सुखद हो, जिसमें बैठने में कोई कष्ट ही न हो, बड़ा आनन्द हो, किन्तु यात्रा करते हुए आपको यह पता चले कि दिल्ली और भी अधिक दूर होती चली जा रही है, तो क्या आप बड़े प्रसन्न होंगे कि क्या बढ़िया आरामदेह गाड़ी है? अरे भई, वह वाहन अच्छा है, यह तो ठीक है, पर जहाँ जाना है, वह वहाँ तो नहीं ले जा रहा है न ! मूल संकेत है कि वह साधन हमें कहाँ पहुँचा रहा है। इसलिये मानो सुमित्रा अम्बा भी लक्ष्मण को यह बताना चाहती हैं ।

कौशल्या अम्बा ने भी यही कहा, क्या होता है ऐसे सत्य से, जिससे स्वर्ग तो मिल जाय, पर भगवान बिछुड़ जायँ? एक बार गुरु वशिष्ठ और अन्य लोगों ने भरतजी से कहा कि तुम्हारे पिता महाराज श्रीदशरथ स्वर्ग में हैं। उस समय श्रीभरत ने एक व्यंग्य भरा प्रश्न किया – यह कहकर आप लोग पिताजी की महिमा बढ़ा रहे हैं या घटा रहे हैं? देखिए न ! संसार में किसी की मृत्यु होती है, तो उसे सम्मान देने के लिये स्वर्गीय ही लिखना पड़ता है, चाहे वह जहाँ भी हो। पर जरा सोचिए, किसी भक्त के लिये स्वर्गीय लिखना उसका सम्मान है कि अपमान है? भगवान राम भी श्रीसीताजी से कहने लगे, अरे, अयोध्या और मिथिला में कितना सुख है ! वन में तो कष्ट ही कष्ट है। तुम अयोध्या और जनकपुर में रहो न ! तो श्रीसीताजी ने कहा कि महाराज, अयोध्या और मिथिला की बात तो आप एक ओर रखिए, अगर स्वर्ग में रहने के लिये मुझसे कह दिया जाय, तो भी मैं नहीं रहूँगी। उनकी व्याख्या क्या थी? सीताजी ने कहा कि जिसमें आप न हो, वह स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान है –

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान।। २/६४

मानो श्रीभरत का तात्पर्य यह था कि पिताजी श्रीराम को छोड़कर स्वर्ग चले गये, तो यह उनके दुर्भाग्य की पराकाष्ठा ही होगी। इसीलिये उन्होंने तो कह दिया –

मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही। २/१६१/३

लगता है कि मृत्यु के समय ब्रह्मा ने उनकी बुद्धि का हरण कर लिया होगा। नहीं तो, क्या वे ऐसा करते? साक्षात् ईश्वर को छोड़कर सत्य के नाम पर स्वर्ग चले गये, वे बड़े घाटे में रहे। यह तो कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। उन लोगों के लिये, जिनको नरक में जाने का डर है, उनके लिये स्वर्ग बहुत बढ़िया है, पर भक्त के लिये स्वर्गीय कहना तो उसका अनादर ही है। भक्त स्वर्गीय कैसे हो सकता है। ऐसी स्थिति में कौशल्या अम्बा ने भी कह दिया कि क्या होता है सत्य?

जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे। (गीतावली, अयो., २/१)

जिसके कारण तुम्हारे चरण बिछड़ जाते हैं। उन्होंने कहा, अगर सत्य के नाम पर तुम्हें वन जाना पड़ता, तो मैं तुम्हें रोक देती। पिता की आज्ञा की बात होती कि पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, धर्म है, तो भी मैं तुम्हें रोक देती।

तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता। २/५५/१

माँ का स्थान पिता की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है यह शास्त्र मानते हैं। यदि पिता की आज्ञा होती, तो भी मैं तुम्हें रोक देती। पर हाँ, जो माँ ने कहा, तो तुम जाओ। कौशल्या अम्बा का समत्व, उनका विवेक, उनकी वृत्ति, उनके चरित्र के अनुकुल है। किस प्रकार वे ईर्ष्या, ममता और शरीर की भावना से मुक्त हैं, इसका परिचय उनके वाक्यों में मिला। उन्होंने कहा, अगर तुम्हें मैं जाने के लिये आदेश दे रही हूँ, तो न तो सत्य के नाम पर और न ही पिता की आज्ञा के नाम पर। उन्होंने कहा –

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ माता।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। २/५५/१-२

अगर तुम्हारी माता कैकेयी ने तुम्हें वन जाने की आज्ञा दी है, तो उनकी प्रसन्नता के लिये चले जाओ। यह माँ की

उदात्त भावना है। अगर उनमें सौत भाव होता तो, वे यही कहतीं कि अरे, वह कैकेयी तो मेरी सौत है, वह मेरा सुख नहीं देख पाती, मुझे दुख देने के लिये व्यग्र है, इसलिये ऐसा कर रही है। उदात्त भाव में स्थित माँ का अभिप्राय है कि तुम्हारे लिये तो विषयों का कोई अर्थ ही नहीं है। तुम्हारे जाते हुए भी अगर मैं जीवित हूँ, तो मैं तो अपने को ही अभागी मानूँगी, यह तो मेरे हृदय की ही न्यूनता है। इस प्रकार से माँ कौशल्या ने व्याख्या की। सुमित्रा अम्बा ने भी वही सूत्र दिया। उन्होंने लक्ष्मण के धर्म को एक वाक्य में कह दिया। माँ से लक्ष्मणजी ने पूछा, तो मुझे क्या आज्ञा है? तब जो सब कुछ छोड़कर साधन पथ पर जा रहा है, उसे सुमित्राजी ने जो सूत्र दिया, वही साधना का सर्वस्व है। माँ ने कहा, जब सब कुछ छोड़कर जा रहे हो, तो अभिमान को भी छोड़कर जाना। सात्त्विक अभिमान को भी साथ न ले जाना। साथ-साथ ध्यान रखना कि व्यक्तियों को छोड़ना सरल है पर राग, रोष, ईर्ष्या को छोड़ना कठिन है। इसलिये सपने में भी इनके वशीभूत मत होना –

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू।। २/७४/५

अब तुम यहाँ तो छोड़कर चले गये और वहाँ जाकर यही याद करते रहे कि मैने वहाँ क्या-क्या छोड़ा, या यही चिन्तन करते रहे कि कैकेयी कितनी बुरी हैं, जिन्होंने हमें इस स्थिति में पहुँचाया। तो तुमने छोड़ा कहाँ? छोड़ने की जो वस्तु है, वह केवल व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति का क्या महत्त्व है, व्यक्ति को छोड़कर व्यक्ति राग-द्वेष के कारण उसके चिन्तन में और भी तल्लीन हो जाता है। सुमित्रा माँ ने सूत्र दिया कि क्या करना –

सकल प्रकार बिकार बिहाई।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।। २/७४/६

सचमुच माँ के आदेश का पालन लक्ष्मणजी ने किया।

छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु।। २/१३९

लक्ष्मणजी के अन्त:करण में किसी की स्मृति कभी भी नहीं आती है। इसीलिये माँ जब लक्ष्मणजी को भगवान श्रीराम के साथ जाने के लिये विदा करती हैं, तो कहती हैं – लक्ष्मण मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ। क्या? तुम्हारा श्रीराम के चरणों में प्रेम हो। जब लक्ष्मणजी प्रभु के पास लौटकर आए, तो प्रभु ने मुस्करा कर देखा, लक्ष्मणजी ने कहा, प्रभु आपने जब मुझे माँ के पास भेजा, तो पहले लगा कि जब आप कह रहे हैं, तो जाना ही पड़ेगा। पर वहाँ जाने पर लगा कि अगर वहाँ न जाता, तो माँ से जो पाया, उससे वंचित रह जाता। माता-पिता तो बालकों को देते ही हैं। पिता तो सारी सम्पत्ति ही दे देते हैं। माता-पिता सन्तान को जो सम्पत्ति देते हैं, उसका व्यंग्यात्मक वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा –

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं।। ७/९८/८

भविष्य में कैसे भोग सन्तान के पास रहें, माता-पिता वही वस्तु देते हैं और वही बात सिखाते हैं। लेकिन सुमित्रा माता ने कहा, जब तुम विदा हो रहे हो, तो विदाई में मैं भी तुम्हें कुछ वस्तु दूँगी। माँ ने जो वस्तु दी, वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है –

रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई।। २/७४ छं.

माँ ने कहा, 'रति होउ'। तुम्हारे अन्त:करण में भगवान श्रीराम के चरणों में रति हो। इसकी व्याख्या बहुत विलक्षण है, बड़ी अनोखी है। आप इतने वर्षों से सत्संग करते रहे हैं, यदि आप उस पर गहराई से विचार करें, तो पायेंगे कि ऐसी समग्र भक्ति की व्याख्या पूरे रामचरितमानस में नहीं है। माँ को एक शब्द से संतोष नहीं होता। वे कहती हैं, केवल सेवा ही नहीं, भगवान श्रीराम के चरणों में तुम्हारी रति हो। उतने से भी संतोष नहीं हुआ, तो बोलीं – 'रति होउ अविरल' – रति ही नहीं, अविरल रति हो। इससे भी माँ को संतोष नहीं हुआ, तो फिर कहती हैं – 'रति होउ अविरल अमल' और फिर यह कहा – 'सिय रघुबीर पद नित नित नई।' तुम्हारे अन्त:करण में श्रीराम के चरणों में रति हो, अविरल हो, अमल हो और वह रति नित नूतन होती जाय। **(क्रमशः)**

प्रश्न तो यह है कि क्या तुम नि:स्वार्थी हो? यदि तुम हो, तो चाहे तुमने एक भी धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन न किया हो, चाहे तुम किसी भी गिरजा या मन्दिर में न गये हो, फिर भी तुम पूर्णता को प्राप्त कर लोगे ।

– स्वामी विवेकानन्द

काशी के बनबाबा : सेवाधर्म के आदर्श महापुरुष

स्वामी नीलकण्ठानन्द

अनुवाद : स्वामी उरुक्रमानन्द

स्वामी विवेकानन्द ने संन्यासी संघ में एक क्रान्ति ला दी थी। संन्यास-धर्म का वह पुराना आदर्श जिसमें घर-बार छोड़कर जनसमुदाय से दूर जंगल में जाकर केवल अपनी ही मुक्ति के लिए चेष्टा करना, आज के परिप्रेक्ष्य में बदल गया है। तो क्या अब संन्यासी लोग मुक्ति हेतु प्रयास नहीं करते अथवा केवल सामाजिक सेवा में ही रत रहा करते हैं? ऐसी बात नहीं है। आज भी संन्यासीगण अपनी मुक्ति हेतु साधना करते हैं, परन्तु मात्र अपनी ही मुक्ति के लिए नहीं, अपितु सारी मानवजाति के लिए। एक ही वाक्य में स्वामी विवेकानन्दजी ने आदर्श की एक नयी परिभाषा चित्रित की है। वे कहते हैं, 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – अर्थात् अपनी मुक्ति के साथ-साथ जगत के कल्याण हेतु।

'विवेकानन्द साहित्य' की भूमिका में भगिनी निवेदिता लिखती हैं, ''ये स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने अद्वैत दर्शन के श्रेष्ठत्व की घोषणा करते हुए कहा था – 'इस अद्वैत में यह अनुभूति समाविष्ट है, जिसमें सब एक हैं, जो एकमेवाद्वितीय है, किन्तु साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म में यह सिद्धान्त भी संयोजित किया कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत एक ही विकास के तीन सोपान या स्तर हैं, जिनमें अन्तिम अद्वैत ही लक्ष्य है।' '' भगिनी निवेदिता ने पुन: आगे कहा, ''यदि एक और अनेक एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के विविध प्रकार ही नहीं, वरन् सामान्य रूप से सभी प्रकार के कर्म और सभी प्रकार की सृष्टि सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अत: लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है। स्वयं जीवन ही धर्म है।''

इन सत्यों का साक्षात्कार करने के पश्चात् स्वामीजी के आदेश पर वाराणसी तथा हरिद्वार के निकट कनखल में उनके शिष्यों के द्वारा सेवाश्रम का निर्माण हुआ था। इन सेवाश्रमों में अनेक संन्यासीगण उपरोक्त आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करने हेतु साधना में रत हुए हैं। उन साधुओं के नाम अब भी मानवजाति के समक्ष उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने सेवाभाव को अपने जीवन का आदर्श बनाकर चुपचाप साधनामय जीवन यापन किया था, जिसमें उनके अपने नाम-यश के लिए कोई स्थान ही न था।

हमारा सौभाग्य था कि ऐसे ही एक दुर्लभ महात्मा का संग हमें वाराणसी सेवाश्रम में प्राप्त हुआ। यद्यपि वे भी स्वयं के बारे में कुछ कहने के समय मौन साध लिया करते थे, तथापि अन्यान्य साधुओं के बार-बार अनुरोध करने पर यदा-कदा कुछ घटनाएँ ज्ञात हो जाती थीं। उनका नाम स्वामी मुक्तानन्द था। किन्तु सभी लोग उन्हें उनके पूर्व बनबिहारी महाराज नाम से ही बुलाते थे। वे 'बनबाबा' के नाम से ही प्रसिद्ध थे। वे स्वयं प्रेम-स्वरूप ही थे। उनका व्यवहार मक्खन की तरह कोमल था। बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी उनसे स्वच्छन्द रूप से घुल-मिल जाते थे। वे भी सबका सम्मान करते हुए प्रेम वितरित किया करते थे। हाँ ! वे सबको 'आप' कहकर ही सम्बोधित करते थे, चाहे वह एक नया ब्रह्मचारी ही क्यों न हो।

बनबाबा पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिले से आए थे। अपने विद्यार्थी जीवन में बेलूड़ मठ द्वारा संचालित अनेक राहत कार्यों से वे बड़े ही सक्रिय रूप से जुड़े रहते थे। विद्यालय के उनके एक शिक्षक ने ही उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस देव, श्रीमाँ सारदादेवी एवं स्वामी विवकानन्द के जीवन से परिचित करवाया था। राहत कार्य समाप्त होने के बाद वे शिक्षक उस कार्य की अन्तिम रिपोर्ट देने बेलूड़ मठ जाते थे। वे हमारे बनबाबा को अपने साथ चलने को कहते थे, जिसे वे बड़े आनन्द से स्वीकार कर लेते थे।

बेलूड़ मठ में रिपोर्ट जमा करने के बाद वे दोनों तत्कालीन संघाध्यक्ष पूज्य स्वामी शिवानन्दजी महाराज को

प्रणाम करने गये, जिन्हें सब लोग 'महापुरुष महाराज' के नाम से जानते थे। उन दोनों को बेलूड़ मठ का शान्त आध्यात्मिक परिवेश बहुत ही अच्छा लगा। उनलोगों ने कुछ दिनों तक वहाँ रहने की अनुमति माँगी। उन्हें सहर्ष स्वीकृति मिल गई। अब बनबिहारी महाराज को वहाँ से वापस गाँव जाने की इच्छा ही नहीं हुई। वे अपने शिक्षक के साथ वापस गये ही नहीं। वे वहीं पर रह गये। कुछ दिनों के बाद महापुरुष महाराज ने उन्हें मन्त्रदीक्षा भी प्रदान की। यह सन् १९२५ की बात है। कुछ काल पश्चात्, महापुरुष महाराज ने उनके कोमल स्वभाव को देखते हुए उन्हें मेदिनीपुर के काँथी आश्रम में भेज दिया। बनबिहारी महाराज १९२५ से १९२७ ई. तक वहाँ रहे। जब वे भयंकर मलेरिया से रोगग्रस्त हो गये, तब चिकित्सा हेतु उन्हें बेलूड़ मठ लाया गया। महापुरुष महाराज ने परामर्श दिया कि वाराणसी सेवाश्रम ही उनकी चिकित्सा हेतु सबसे उत्तम स्थान होगा, क्योंकि वहाँ एक अस्पताल था। इस प्रकार सन् १९२७ में बनबिहारी महाराज काशी सेवाश्रम में पधारे थे। कुछ समय बाद महापुरुष महाराज स्वयं वाराणसी आये थे एवं बनबिहारी महाराज के स्वास्थ्य में सुधार देखकर वे बड़े प्रसन्न भी हुए थे। तब उन्होंने बनबाबा को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-दीक्षा में दीक्षित कर उन्हें गेरुआ वस्त्र भी दिया था। उन्होंने बनबाबा से कहा था, 'तुम वाराणसी में रहकर नारायणों की सेवा करो। तुम्हें द्वार-द्वार भिक्षा कर भोजन की व्यवस्था करनी पड़ेगी, इसीलिए यह गेरुआ वस्त्र तुम्हारे काम आएगा।'

१९२९ ई. में वे पुन: एक अन्य रोग से ग्रस्त हो गए। तब उन्हें रामकृष्ण मिशन, रंगून (बर्मा) विशेष चिकित्सा हेतु भेजा गया था। उन दिनों रंगून में मिशन के इस अस्पताल को अत्याधुनिक माना जाता था। रंगून में बनबाबा ने चिकित्सा के कुछ नये आयाम सीख लिये, विशेषकर घाव पर पट्टी बाँधकर उन्हें ठीक करने की विशेष तकनीक। यह ज्ञान वाराणसी में रहने के दौरान बहुत ही लाभदायी सिद्ध हुआ था। रंगून में अपनी चिकित्सा समाप्त होने के पश्चात् बनबाबा हिमालय की यात्रा पर निकल पड़े थे एवं लगभग सन् १९३२ में पुन: वाराणसी आ गये।

इसके बाद बनबाबा वाराणसी में अपने जीवन के अन्त तक अर्थात् सन् १९६६ तक रहे। वाराणसी सेवाश्रम की तब आर्थिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। सुविधायें नहीं थीं। सेवा की बहुतायत थी, परन्तु डॉक्टरों का भी अभाव था। सभी कार्यों को साधुगण स्वयं अपने हाथों से करते थे। प्रत्येक दिन भिक्षा के लिए द्वार-द्वार भटकना बड़ा ही श्रमसाध्य काम था। बनबाबा ने हम लोगों को बताया था कि उन्हें भिक्षा करने का सेवाकार्य ही प्रथम सौंपा गया था।

एक साधु ने उन्हें भिक्षा करना सिखलाया था। उन्होंने बताया था, "यह लो ! एक नोटबुक है, जिसमें मासिक भिक्षा देनेवाले दाताओं की सूची है। इसमें तिथि के अनुसार भिक्षा माँगने की सूची है। इसलिए तिथि देखकर ही उन-उन दाताओं के घर जाना। सामान ढोने के लिए एक बड़ा बोरा ले जाना। पहले घर में जाना और आवाज लगाना, 'मैं अनाथ आश्रम से भिक्षा के लिए आया हूँ। कृपया भिक्षा दे दीजिए।' तब वे तुम्हें मुट्ठी भर चावल दे देंगे। उसे बोरे में भर लेना और जब तक वह भर न जाए, भिक्षा करते ही रहना।" अब बनबाबा की फेरी शुरू हो गयी। पहले ही घर में उन्होंने जाकर आवाज लगाई, पर कोई बाहर निकला ही नहीं, क्योंकि उनके गले की आवाज बहुत ही कमजोर थी। वे कुछ काल तक दरवाजे के बाहर खड़े रहे और जब कोई नहीं निकला, तो वे जाने को उद्यत हो ही रहे थे कि एक महिला आई और इस तरह आने का कारण पूछा। उत्तर पाकर वह महिला बोलीं, "शायद तुम अभी नये हो। क्या उन लोगों ने तुम्हें भिक्षा करना सिखलाया नहीं?" ऐसा कहकर उन महिला ने बनबाबा को भिक्षा किस तरह की जाती है, यह सिखला दिया। उन्होंने जोर से एक बार कहा और बनबाबा को उसे दोहराना भी पड़ा। उसके बाद वे बोलीं, "जब वे एक मुट्ठी अन्न देंगे, तो तुम्हें उन लोगों से कहना भी है – 'माँ, इस बार आपने बहुत कम दिया है', इस तरह वे लोग अधिक भिक्षा देंगे, अन्यथा भिक्षा की मात्रा दिनों-दिन कम ही होती जाएगी।"

एक बार उन्हें १०० किलो की भिक्षा लेकर आना पड़ा और अन्तिम घर करीब ८-९ किलोमीटर की दूरी पर था। यह दूरी उन्हें पैदल चल कर सामान लादकर पूरी करनी पड़ी और वे गर्मी के दिन थे। वे थककर चूर हो गये थे। उन्होंने अन्न का बोरा मठ के मुख्य कार्यालय के सामने रख दिया और स्वयं सो गये। किसी ने उन पर ध्यान भी न दिया। जब खजांची स्वामीजी पुन: ऑफिस खोलने वहाँ आये, तो उन्होंने बनबाबा को बेहोशी की हालत में पाया। उन्होंने उन्हें उठाया और जाकर कुछ खा लेने की सलाह

दी।

उस समय नाश्ते की तो कोई बात ही नहीं थी, क्योंकि उसके लिये रुपये ही नहीं रहते थे। दो समय भोजन मिल जाता था, जिसमें चावल, पानीदार दाल तथा बहुत हुई तो एक सब्जी। हर साधु को बहुत ही शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था। युवक संन्यासियों को तो बहुत भूख की मार झेलनी पड़ती थी। बनबाबा कहते थे कि फिर भी वे दिन बहुत ही आनन्ददायक थे। उन लोगों के पास अपने शरीर की सुध लेने का अवकाश ही कहाँ था ! क्योंकि उन्हें तो रोगियों की देखभाल करनी पड़ती थी। उन्हें रोगी कहना भी दोषपूर्ण माना जाता था, क्योंकि वे साक्षात् नारायण थे! इस सेवाश्रम के बगल में रामकृष्ण संघ का एक दूसरा आश्रम है, जिसे रामकृष्ण अद्वैत आश्रम कहते हैं। उसे 'ठाकुर-बाड़ी' भी कहते हैं। वहाँ श्रीरामकृष्ण देव की विधिवत् पूजा की जाती है। उन दिनों यह प्रसिद्ध उक्ति थी – "ठाकुर-बाड़ी में रामकृष्णदेव की पूजा मूर्ति में होती है और सेवाश्रम में उनकी पूजा नर-रूप में होती है।" जीवित विग्रह की पूजा करना बड़ा ही कठिन काम होता है। मन्दिर का विग्रह तो कुछ कहता नहीं है, परन्तु यह जीवित विग्रह आपसे शिकायत करेगा, नाराज होगा, मार भी सकता है अथवा गाली-गलौज भी कर सकता है। वह आपकी बात सुन भी सकता है और नहीं भी सुन सकता है !

उन दिनों काशीवासियों की यह आदत-सी बन गयी थी कि वे किसी भी प्रकार के अवांछित रोगी को सेवाश्रम के दरवाजे पर यह समझकर छोड़कर चले जाते थे कि साधु लोग तो उसकी सेवा अवश्य ही करेंगे। इसी तरह की एक घटना बनबाबा ने हम लोगों को बतलाई थी। वे उस समय वार्ड में सेवारत थे। एक बार उन्होंने देखा कि एक बहुत ही मोटे और अत्यन्त काले आदमी को कोई सेवाश्रम के दरवाजे पर बहुत ही दयनीय स्थिति में छोड़ गया है। उसके कपड़े फटे और मल-मूत्र से पूरी तरह सने हुए भी थे। उसके शरीर से भयंकर दुर्गन्ध निकल रही थी। तब दोपहर के भोजन की घण्टी के बजने का समय निकट ही था। दरबान ने आकर उस आदमी के बारे में बनबाबा को बताया। बनबाबा ने जाकर देखा, तो वह बेहोश था। परन्तु ऐसे समय भला कौन आएगा? वह भी भोजन के समय किसी को बुलाना भी उचित न था। इसीलिए उस दरबान की मदद से बनबाबा ने उस आदमी को उठाया एवं अस्पताल के भीतर रख दिया और जाकर भोजन-कक्ष के बाहर प्रतीक्षा करने लगे। उन्होंने भोजन भी नहीं किया। जब भोजनोपरान्त साधुगण हाथ धोने के लिये बाहर निकले, तो देखा कि बनबाबा खिन्न मन से उदास होकर बाहर बैठे हुए हैं। एक साधु ने पूछा, "क्या हुआ बानू?" उन्होंने बड़े शान्त ढंग से उत्तर दिया, "मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ। मेरे पिताजी तीर्थयात्रा करने आये थे एवं अचानक बीमार पड़ गये हैं। मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा हूँ।" तुरन्त यह बात सभी साधुओं में फैल गयी और सब लोग बनबाबा के साथ अस्पताल की तरफ गए और उस 'नारायण' के लिए जो भी करणीय था, उसे तुरन्त ही किया। जब उस व्यक्ति को थोड़ी राहत मिली, दवाई दे दी गयी, उसे धुला कर कपड़े बदल दिये गये, तब साधुगण अपने-अपने सेवाकार्य में लग गये। तब एक साधु ने बनबाबा से पूछा, "बानू, मुझे एक शंका है। ये कैसे हो सकता है कि तुम इतने गोरे हो और तुम्हारे पिताजी इतने काले?" बनबाबा ने तब बड़े शर्माते हुए उत्तर दिया, "वह मेरा पिता नहीं है। वह इतना मोटा था कि उसकी मैं अकेले सेवा नहीं कर पाता। इसीलिए मुझे आप सब लोगों की मदद लेनी पड़ी। क्या तुम्हें लगता है कि ये सभी साधु सेवा में इतनी तत्परता दिखाते, यदि मैं उसे अपना पिता न बताता?" वे दोनों बड़े जोर का ठहाका लगाकर हँसे। परन्तु हम उनकी सेवा करने की इस अद्भुत रीति से आश्चर्यचकित जरूर हुए।

सेवाश्रम का मासिक बजट बड़ा ही सीमित था। सभी खर्चे उसे ध्यान में रखकर करने पड़ते थे। आर्थिक अभाव एवं भोजन की कमी होने के बाद भी साधुगण सेवा करने में कोई कमी नहीं रखते थे। सेवाधर्म के साथ-साथ वे प्रतिदिन की आध्यात्मिक साधना भी बड़े ही मनोयोग से करते थे। उनका जीवन ही मानो एक आध्यात्मिक चक्रनुमा था। सेवा के समय वे जीवन्त ईश्वर की सेवा करते थे और उसके बाद जप, ध्यान आदि करते थे। बनबाबा ने एक बार हमें अपनी साधारण दिनचर्या बतायी थी, जिसका पालन वे अपने दोनों पैरों के अशक्त होने तक करते ही रहे । वे प्रातः ३.१५ बजे उठकर गंगा-स्नान करने जाते थे। स्नान के पश्चात् विश्वनाथ तथा माँ अन्नपूर्णा का दर्शन कर वहाँ लगभग १ या २ घण्टे तक जप करते थे। उसके बाद सेवाश्रम लौटते थे। फिर नारायण-सेवा चलती थी। सन्ध्या के समय वे केदार घाट जाते और वहाँ कुछ घण्टों तक

जप-ध्यान करते थे। एक बार कोई दूसरे साधु उनके साथ केदार घाट गये थे। उन्होंने बताया था कि बनबाबा घाट के दाहिनी ओर गंगा के किनारे एक पत्थर पर अपना आसन लगाते थे। अभ्यासानुसार उस दिन भी बनबाबा केदारनाथ का दर्शन कर वहाँ बैठ गये। परन्तु अन्य साधु अधिक समय तक वहाँ बैठ न सके और इधर-उधर घूमने लगे। अचानक उन्होंने देखा कि एक साँप बनबाबा की ओर बढ़ रहा है, परन्तु वे उससे बिल्कुल बेखबर हैं। शोर मचाने से स्थिति और खराब हो जाती, इसीलिए वे साधु भी चुपचाप प्रार्थना करते हुए साँस रोके देखते रहे। साँप उनके शरीर पर से होते हुए चला भी गया। उन साधु को राहत मिली और उन्होंने बनबाबा को इसके विषय में बतलाया। बनबाबा बोले, ''मुझे तो साँप के विषय में कुछ पता ही न चला।'' केवल गम्भीर ध्यान ही किसी मनुष्य को अपने शरीर और आसपास के वातावरण से अनभिज्ञ रख सकता है।

बाद के दिनों में बनबाबा ड्रेसिंग रूम में ही अधिकतर सेवारत रहते थे। वहाँ वे रोगी-नारायणों के घाव पर पट्टी बाँधकर ठीक करने में ही व्यस्त रहते थे। उन्होंने स्वयं अपने ढंग से ओषधि आदि का विकास कर लिया था, जिससे वे घावों को शीघ्र ही सुखाकर ठीक कर देते थे। हमने उन्हें इस ड्रेसिंग-सेवा में बड़ी ही तन्मयता एवं दक्षता से कार्य करते देखा है। वे चीजों को जरा-सा भी नष्ट नहीं करते थे। वे पुराने बैंडेज को धो-सुखाकर स्टर्लाइज करते एवं गोल बनाकर पुन: उपयोग करते थे। ये सब वे स्वयं अपने ही हाथों से अन्त तक करते रहे। लोग उन्हें 'सचल विश्वनाथ' कहते थे। यहाँ तक कि उस समय के बड़े-बड़े सर्जन भी अपने रोगियों के घाव जब भरते न देखते, तो वे भी उन्हें बनबाबा के पास ही भिजवा देते थे। और हाँ! देखा भी जाता था कि उनके हाथों का जादू काम कर जाता था। घाव सचमुच ठीक हो जाता था। क्या इसमें केवल ओषधि का ही कमाल होता था? बिल्कुल नहीं। यह तो बनबाबा की आन्तरिकता ही थी कि उनकी सेवा अपना प्रभाव दिखाती थी। सर्जन लोग कहते थे कि कभी-कभी तो ऐसे घाव के रोगी आते, जिसकी दुर्गन्ध से कोई टिक नहीं पाता था। परन्तु बनबाबा निर्विकार भाव से घाव की गन्दगी को बड़ी कुशलतापूर्वक साफ कर देते थे, मानो उन्हें दुर्गन्ध ही न आती हो !

मैं एक दूसरी घटना का उल्लेख कर रहा हूँ, जिसे बनबाबा ने स्वयं ही हमलोगों को बतलाई थी। एक बार वे रात में आपातकालीन-सेवा में थे। लगभग रात के १० बजे द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि एक महिला कुछ समस्या लेकर आई है। वे आपातकालीन कक्ष में गये। वहाँ एक अनुपमा सुन्दरी खड़ी थीं। उनका सौन्दर्य इतना मनमोहक था कि उनके जैसे साधु भी अवाक् होकर उन महिला को देखने लगे। वे समझ गयीं। उन्होंने बनबाबा से कहा, ''अरे बाबा ! चेहरे को क्या देखते हो? यहाँ देखो।'' ऐसा कहकर उन्होंने अपना ऊपरी वस्त्र हटा दिया। बनबाबा उनके बिल्कुल सड़े हुए स्तनों को देखकर हतप्रभ हो गये। वे तुरन्त सजग हो गये। उन्होंने कहा, ''माता, मुझे क्षमा कीजिये। एक क्षण रुकिये। मैं इन घावों को साफ करके बेंडेज कर देता हूँ।'' ऐसा कहकर वे ओषधि और बैंडेज आदि लाने हेतु भीतर के कक्ष में गये। जब वे २-३ मिनिट बाद बाहर आये तो देखते हैं कि माता वहाँ हैं ही नहीं। उन्होंने उन महिला को पुकारा, इधर-उधर खोजने लगे। तब वे द्वारपाल के पास गये। उस द्वारपाल ने उन्हें बुलाने और किसी महिला को देखने से साफ मना कर दिया। कालान्तर में बनबाबा कहते थे, ''माँ अन्नपूर्णा ही आयी थीं और उन्होंने मेरे भीतर के बचे हुए काम को भी मानो भस्म कर दिया।''

वाराणसी में अनगिनत मन्दिर हैं और प्रत्येक के साथ कोई-न-कोई कहानी जुड़ी हुई है। बनबाबा स्वभावत: बड़े भक्त थे। उन्होंने वाराणसी के लगभग सभी मन्दिरों के दर्शन किये थे। वे नवरात्रि में नवदुर्गा-पूजा के समय वाराणसी की सारी धार्मिक क्रियाओं का पालन करते थे। इस दौरान वे नवदुर्गा के मन्दिरों का दर्शन अवश्य करते थे। एक बार ऐसा ग्रहों का योग आया कि यदि काशी में कोई व्यक्ति ब्रह्मघाट पर स्थित एक कुँए में किसी विशेष तिथि पर स्नान कर ले, तो काशी खण्ड के अनुसार उसे मुक्ति मिल जाती है। उस दिन स्नान हेतु बहुत बड़ी भीड़ उक्त कुँए पर एकत्रित हो गयी थी। बनबाबा भी वहाँ पहुँच ही गये और कुँए के भीतर धीरे-धीरे उतरने लगे। कुँआ बहुत ही गहरा था। जैसे-जैसे वे कुँए में नीचे उतरने लगे, लोगों का कोलाहल कम होने लगा। उन्होंने एक बहुत ही स्पष्ट आवाज को सुना, ''यह तुम्हारे लिए नहीं है। तुम एक संन्यासी हो, इसीलिए मुक्त ही हो।'' इस ध्वनि ने मानो उनके भीतर तक प्रवेश किया और वे धीरे-धीरे बिना स्नान

किये ही ऊपर चढ़ आये। इसके बाद से वे अन्यान्य ऐसे धार्मिक कृत्यों को इतनी निष्ठा से नहीं करते थे।

बनबाबा हमें बतलाते थे कि इतने परिश्रम के बावजूद उन सभी साधुओं में हँसी-मजाक और भाईचारे की कोई कमी नहीं होती थी। वे सब मानो अमृत की ही सन्तान थे। निष्कपट एवं निश्छल आनन्द उनके कठोर जीवन में भी मानो एक प्रकाश ला देता था। उन्होंने हमें एक बहुत ही मजेदार घटना बतलाई थी।

उन लोगों के साथ एक साधु थे, जिन्हें भूत से बड़ा भय लगता था। उन्हें अधिक डराने के लिये उनकी उपस्थिति में अन्यान्य साधु भूत का कोई-न-कोई विषय छेड़ देते थे। इसी तरह एक बार बनबाबा ने उन साधु से कहा – "यदि भूत किसी व्यक्ति पर पेशाब कर दे, तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है।" वे साधु बोले, "अरे ! यह सब झूठ बात है। भूत कभी पेशाब करते ही नहीं।" इस बात पर तर्क होता रहा और अन्तत: शर्त भी लग गयी। इस बात की भी घोषणा कर दी गयी कि आश्रम के मुख्य द्वार के पास बिल्व पेड़ के निकट एक भूत का निवास है। फिर ऐसी योजना बनी कि कोई साधु उन भयभीत साधु को रात में उस बिल्व-पेड़ के निकट ले जाएगा। सब कुछ योजनानुसार हुआ। जैसे ही वे साधु बिल्व के पेड़ के निकट आये, तभी अचानक एक सफेद रंग का बड़ा-सा कोई भूत सामने आकर खड़ा हो गया। उन दिनों बिजली बड़ी दुर्लभ थी और आर्थिक अभाव के कारण सेवाश्रम में इसका सर्वथा अभाव ही था। वह सफेद-सा दीखने वाला भूत उन साधु के करीब आया और उन साधु ने कुछ गरम तरल पदार्थ को अपने शरीर पर गिरता हुआ अनुभव किया। वे साधु चिल्ला उठे कि उन पर गरम पानी पड़ रहा है। तब अन्य साथवाले साधु बोल उठे, "हे भगवान् ! भूत ने तुम पर पेशाब कर दिया है।" जैसे ही इन साधु ने यह सुना, वे तत्काल बेहोश हो गये। अब सभी मुश्किल में पड़ गये। बड़ा-सा सफेद भूत और कोई नहीं था, एक साधु दूसरे साधु की पीठ पर बैठ गये थे और उन्होंने अपने ऊपर एक सफेद चादर ओढ़ ली थी। गरम पानी इंजेक्शनवाली सीरींज से उन साधु पर डाला गया था। सफेद चादर को फेंक दिया गया और वे सब अपने साधु भाई को अस्पताल में लेकर दौड़ पड़े। इस घटना को सुनकर बड़े स्वामीजी ने सभी को खूब डाँट-फटकार लगाई। परन्तु वे फिर भी स्कूल के बच्चों की तरह शैतानियाँ करने से बाज न आते थे।

जैसा कि हमने पहले ही उल्लेख किया है, हमें बनबाबा के जीवन की बहुत ही कम घटनाएँ ज्ञात हैं। वे उनका उल्लेख ही नहीं करते थे, क्योंकि उससे कहीं अहंकार आदि उत्पन्न न हो जाए। तथापि जितना भी हमें ज्ञात था, यहाँ हमने उनका वर्णन किया है। हम अब अन्त में एक और घटना का उल्लेख कर इस लेख को विराम देंगे, जिसे हमने उनके एक साधु-सेवक से सुनी थी। यह घटना उनके अन्त समय के कुछ दिनों पूर्व ही घटी थी।

बनबाबा ने ड्रेसिंग विभाग में बहुत वर्षों तक सेवा की थी। इस सेवा को करने में उन्हें अनेकों घण्टे खड़े रहना पड़ता था। अनेक वर्षों से निरन्तर यही काम करने से उनके पाँव ठूँठ की तरह अकड़ गये थे। वे अपने घुटनों को मोड़ नहीं सकते थे और उनका चलना भी दूभर हो गया था। हम इस बात की कल्पना ही कर सकते हैं कि मात्र १०० मीटर की दूरी पर वे ३०-३५ मिनिट में पहुँचते थे। इस तरह धीरे-धीरे उनका चलना मानो बन्द हो गया था। वे व्हील-चेयर पर बैठना कदापि पसन्द नहीं करते थे, जिसे हम लोगों ने लगभग सन् १९९२ में उन पर मानो थोप दिया था। तथापि प्रतिदिन अपने जीवन के अन्त तक वे ड्रेसिंग-रूम में अवश्य जाते थे। वे सुबह वहाँ जाते थे और दोपहर लगभग १२.३० बजे वहाँ से वापस आते थे। उन्हें अपने कमरे में आते-आते लगभग १ बज जाता था। इसके बाद वे स्नान कर भोजन करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि लगभग १.३० बजे वे भोजन करते-करते अचानक रुक गये और गम्भीर चिन्तन में डूब गये। उन्होंने अपने सेवक-साधु से कहा, "एक रोगी-नारायण बहुत ही दयनीय स्थिति में अस्पताल में आया है और उसे देखने के लिए वहाँ कोई डॉक्टर उपलब्ध नहीं है। तुम शीघ्र ही वहाँ जाओ और स्थिति को सम्भाल लो।" उन सेवक ने कहा कि हम लोग जब वापस आ रहे थे, तब डॉक्टर तो वहीं थे और आपातकालीन कमरे में वे तो होंगे ही, इसलिए वे चिन्ता न करें। परन्तु बनबाबा इन सब तर्कों को कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने भोजन करना भी बन्द कर दिया। जब सेवक ने उनसे भोजन करने की विनती की, तो उन्होंने मना करते हुये कहा कि ऐसी स्थिति में वे भोजन नहीं कर पाएँगे। अब सेवक को स्थिति को परखने हेतु अस्पताल में जाना ही पड़ा। उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि एक अत्यन्त

ही बीमार रोगी-नारायण अचेतावस्था में ऑटो-रिक्शा से लाया गया था और आपातकालीन विभाग में उसे देखने हेतु कोई डॉक्टर भी उपलब्ध नहीं थे। सेवक ने शीघ्र ही उन रोगी-नारायण को अस्पताल में भर्ती कर डॉक्टर को उनके कमरे से बुलाकर सब व्यवस्था कर दी। ओषधि आदि से जब रोगी-नारायण का स्वास्थ्य कुछ सम्भल गया, तब वे सेवक बनबाबा के पास वापस आए। इन सबमें आधा घण्टा बीत चुका था। जब सेवक बनबाबा के कक्ष में पुन: आये, तब भी वे बिना भोजन किये यूँही बैठे हुए थे। सेवक ने जब रोगी-नारायण के बारे में सब कुछ बताया तब आश्वस्त हो फिर से वे भोजन करने लगे।

अब सेवक के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। बनबाबा को भला कैसे ज्ञात हुआ कि ऐसा रोगी-नारायण आया है? बनबाबा का कमरा अस्पताल से बहुत दूर था और बीच में दीवार एवं पेड़ थे। उन्होंने ऑटो-रिक्शा की आवाज भी नहीं सुनी थी। यदि ऐसी आवाज सुनी भी होती, तो कैसे जान गये कि उसमें ऐसा रोगी-नारायण आया है? किसी भी तरह का तार्किक उत्तर इस घटना के लिए नहीं दिया जा सकता। हमें तो केवल आध्यात्मिक समाधान ही खोजना होगा। बनबाबा ने अपने व्यक्तित्व को ही मानो कहीं खो दिया था और उनका सबके साथ एकात्मभाव हो गया था।

बनबाबा ने हमें यह भी बताया है कि कई बार वे अपने कक्ष में आने हेतु आधे दूर तक आ चुके हैं और वहाँ अस्पताल में कोई रोगी-नारायण आकर ड्रेसिंग हेतु विनय कर रहा है। यद्यपि वहाँ पर बनबाबा का एक सहायक होता ही था, जो इस कार्य को निपुणता से कर देता था, अन्यथा प्राथमिक-चिकित्सा विभाग में यही सेवा अन्य साधु भी कर देते, परन्तु बनबाबा किसी भी रोगी-नारायण को कभी वंचित नहीं करते थे। वे पुन: वापस आकर उसकी ड्रेसिंग कर देते थे। इसके कारण उनका भोजन विलम्ब से होता था। परन्तु उन्होंने ९० वर्ष की आयु तक इन सबकी कभी परवाह ही नहीं की !

धन्य हैं ऐसी आत्माएँ, जो स्वयं सिद्ध होकर पूरे मानव-समाज को मात्र अपने अस्तित्व से ही धन्य कर देती हैं। ईश्वर से हमारी यह विनम्र प्रार्थना है कि इन महान आत्माओं से हम सेवा करना सीखें, जिससे हम अपने जीवन में अबाध रूप से आचरण कर अपने जीवन को भी धन्य कर सकें। ○○○

प्रेरक लघुकथा

नि:स्वार्थी और सहयोगी बनें

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

महमूद गज़नवी जब गुजरात की सीमा पर आया, तो उसने अपने एक जासूस को समीप के गाँव में गोपनीय जानकारी लेने के लिए भेजा। जासूस को गाँव में जब एक गाय दिखाई दी, तो उसने उसे एक खेत में खदेड़ दिया। खेत की रखवाली करने वाले किसान ने जब गाय को खेत में आते देखा, तो हाथ की लाठी से उसे भगा दिया। तब गाय दूसरे खेत में घुस गई और वहाँ की फसल खाने लगी। यह देख जासूस किसान के पास गया और उसने कहा, ''मुझे यह देख अचरज हो रहा है कि गाय जब तुम्हारे खेत में घुसी, तो तुमने उसे भगा दिया। अब पड़ोस के खेत की फसल नष्ट कर रही है, तो तुम इसकी उपेक्षा कर चुपचाप खाट पर लेटकर बीड़ी फूँक रहे हो।'' किसान ने जवाब दिया, ''जब धूप, बारिश और ठंड को बरदाश्त करते हुए मैं अपने खेत की रखवाली करता हूँ, तो इस किसान का कर्तव्य नहीं बनता कि वह भी अपने खेत की स्वयं रखवाली करे।'' जासूस जान गया कि यहाँ के लोग स्वार्थी हैं। एक-दूसरे की मदद करने और सहयोग करने की उनमें भावना नहीं है।

जासूस ने राजा को सारा वृत्तांत सुनाया और कहा कि यहाँ के लोगों में एकता नहीं है। यदि यहाँ के राजा पर आक्रमण किया जाए, तो दूसरा कोई राजा उसकी मदद करने नहीं आएगा। यहाँ के लोगों और सैनिकों को लालच देकर आसानी से वश में किया जा सकता है। महमूद ने बड़ी फौज लेकर उस राज्य पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया।

एकता का जीवन में बड़ा महत्त्व है। स्वार्थ, संकीर्णता और संकुचितता का त्याग कर एक-दूसरे को सहयोग और सहायता करना हर व्यक्ति का परम कर्तव्य है। एक-दूसरे के हित और कल्याण के लिए एकता बहुत आवश्यक है।

○○○

मेरे विचार से तो शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है, तथ्यों का संकलन नहीं। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और इसमें मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति की क्षमता को बढ़ाऊँगा और उपकरण के पूर्णतया तैयार होने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करूँगा।

– स्वामी विवेकानन्द

आदर्श : जीवन की परम आवश्यकता

स्वामी ओजोमयानन्द
रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ

आदर्श का अभाव व्यक्ति को वैसे ही खोखला कर देता है जैसे लकड़ी को घुन भीतर-ही-भीतर खोखला कर देता है। आज की चकाचौंध की दुनिया बाह्य आवरण और बाह्य आडम्बरों को ही महत्त्व देती है, जिससे जगत दूर से तो चमकता हुआ प्रतीत होता है, पर पास जाने पर मरुमरीचिका के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता। आज युग जिस गति से सभ्यताओं के मिलन और टूटती परम्पराओं की धारा में प्रवाहित हो रहा है, वहाँ सबके समक्ष एक नैतिक आदर्श की आवश्यकता है, अन्यथा वह दिन दूर नहीं, जब मानव-सभ्यता पशुओं की भाँति ही विच्छिन्न हो जायेगी। राष्ट्रीय आदर्श का अभाव राष्ट्र को ही संकटों में डाल देता है और व्यक्तिगत आदर्श का अभाव परिवार और समाज की विपदाओं का कारण बनता है। किसी वैज्ञानिक, पदाधिकारी या प्रतिभाशाली व्यक्ति में आदर्श का अभाव हो, तो वह समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यदि कोई वैद्य रोगी को या शिक्षक अपने विद्यार्थी को आय का स्रोत समझ ले, तो वह समाज के लिए घातक सिद्ध होगा। अत: इसके निराकरण हेतु हमें आदर्श की अत्यन्त आवश्यकता है।

आदर्श के लाभ

जब हम अपने जीवन का आदर्श निश्चित कर लेते हैं, तब हमारे भीतर कुछ सकारात्मक परिवर्तन होने लगते हैं, पर कुछ देर बाद हमारे पुराने संस्कार हमें पुन: पीछे खींचने लगते हैं और हम भूल कर बैठते हैं। इसके बाद हमारे भीतर का आदर्श हमें पुन: पुकारता है और हम पुन: आदर्श-पथ पर चलने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार यह संघर्ष की प्रक्रिया चलती रहती है। जो लोग इस संघर्ष में आदर्श को छोड़ देते हैं, वे कभी प्रगति नहीं कर पाते, किन्तु जो आदर्श को पकड़े रहते हैं, वे सदैव अग्रसर होते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, "यदि आदर्श पर चलने वाला व्यक्ति हजार भूलें करता है, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं है, वह पचास हजार भूलें करेगा।"[१] अत: अब जीवन का गणित इसी सूत्र पर आधारित हो, तो हमें एक आदर्श की खोज अवश्य करनी चाहिए।

कुछ छात्रों से अपने जीवन में कुछ आदर्श रखने को कहा गया था तथा एक माह के पश्चात् अपने जीवन में आने वाले परिवर्तनों को प्रकट करने को कहा गया। एक माह बाद जब उनसे पूछा गया, तब सबके सामने एक विशेष समस्या थी। उन सबने यही कहा कि आदर्श रखने से पूर्व उनके जीवन में कोई समस्या ही नहीं थी, पर अब समस्याएँ बढ़ गयी हैं। क्योंकि पहले वे समस्या आने पर सहजता से झूठ बोल देते थे, पर अब उन्हें या तो सत्य कहना पड़ता है अथवा मौन रहना पड़ता है। माता-पिता की फटकार से बचने के लिए चालाकी कर लिया करते थे, पर अब वे ऐसी स्थिति आने पर आत्मसमर्पण कर देते हैं। छात्रों से इस अभ्यास को निरन्तर जारी रखने को कहा गया। इसका परिणाम सामने आया कि उनका जीवन परिवर्तित हो रहा है। वस्तुत: आदर्श सामने रखने पर सर्वप्रथम विषम परिस्थितियाँ आती हैं और हमारा मन कहता है, बस, इस बार समझौता कर लो, फिर अगली बार से आदर्श की उंगलियाँ थामकर चलेंगे। जो समझौता कर लेते हैं, वे फँस जाते हैं, जो दृढ़ रहते हैं, वे ही प्रगति करते हैं।

जिन्होंने अपने जीवन में लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, उन्हें अपने आदर्श का भी निर्धारण कर लेना चाहिए। क्योंकि तब आदर्श आपके पथ का सहायक हो जायेगा, वह आपका पथ-प्रदर्शक हो जायेगा। हमारी भूल पर हमें सही मार्ग दिखायेगा और द्वन्द्व में समाधान करेगा।

स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में आदर्श का एक और लाभ भी प्रकट होता है, "मनुष्य को नैतिक और पवित्र क्यों होना चाहिए? इसलिए कि इससे उसकी संकल्प -शक्ति बलवती होती है।"[२]

कैसे गढ़ें आदर्शमय जीवन

१. जिस प्रकार हम सर्वप्रथम अपने गन्तव्य स्थान का निर्णय करते हैं और उसके पश्चात् साधन पथ का, उसी प्रकार हमें सर्वप्रथम अपना लक्ष्य और फिर आदर्श निर्धारित करना पड़ेगा। हमें जब आदर्श बनाना ही हो, तो एक उच्च आदर्श ही बनाना चाहिए। स्वामीजी के शब्दों में, "सभी लोग आकाश को देख पाते हैं, भूमि पर रेंगने वाले छोटे कीड़े भी ऊपर की ओर दृष्टि करने पर नील वर्ण आकाश को देखते हैं, पर वह हमसे कितनी दूर है। हमारे आदर्शों के सम्बन्ध में भी यही बात है। आदर्श हमसे

बहुत दूर हैं और हम उनसे बहुत नीचे पड़े हुए हैं, तथापि हम जानते हैं कि हमें अपने सामने एक आदर्श रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं, हमें सर्वोच्च आदर्श रखना आवश्यक है।''[३]

२. हम तीन प्रकार से आदर्श निर्धारित कर सकते हैं। प्रथम जिसमें हम किसी दिव्य पुरुष को अपना आदर्श मान लें, जिनसे हमारा भी जीवन दिव्य हो जाये। जैसे श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकान्द आदि। स्वामीजी कहते हैं, ''एक आदर्श रखना अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके सुनना होगा, तब तक सुनना होगा, जब तक कि वह हमारे अन्दर प्रवेश नहीं कर जाता, हमारे मस्तिष्क में पैठ नहीं जाता, जब तक वह हमारे रक्त में घुसकर उसकी एक-एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु में ओत-प्रोत नहीं हो जाता।''[४] स्वामी विवेकानन्द जी स्वयं कुछ आदर्शों का उदाहरण देते हुए कहते हैं, ''हे भारत ! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है, मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं।''

३. द्वितीय मार्ग, किसी सिद्धान्त को अपना आदर्श बनाना है, जैसे सत्य, धर्म, पवित्रता आदि। स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में, विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति की प्रेरक-शक्ति है। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन इन्हीं भावों को सुनते रहो, माह-पर-माह इन्हीं का चिन्तन करो।'[५]

उदाहरणार्थ वे कहते हैं, ''अनन्त धैर्य, अनन्त पवित्रता और अनन्त अध्यवसाय – सत्कार्य में सफलता के रहस्य हैं।''[६]

४. तृतीय मार्ग में हमें अपने उत्थान के लिये सदैव प्रयासरत रहना चाहिए। हम जब भी किसी में कुछ आदर्शमय देखें तो उसका अनुसरण करें। ऐसा करते-करते हम पूर्णता की ओर अग्रसर होते रहेंगे। परन्तु अंधानुकरण अनुचित है। स्वामीजी कहते हैं, ''जब तक जीना है, तब तक सीखना है। पर एक बात अवश्य ध्यान में रख लेने की है कि जो कुछ सीखना है, उसे अपने साँचे में ढाल लेना है। अपने असल तत्त्व को सदा बचाकर फिर बाकी चीजें सीखनी होंगी।''[७]

५. इनमें से कोई एक, दो या तीनों का ही अवलम्बन करके हमें आगे बढ़ना होगा। हम जैसे सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। अत: हमें स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट भाव को ग्रहण करना होगा।

६. अगला व्यवधान बाधाओं का है, जिनसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। स्वामीजी कहते हैं, ''आदर्श की उपलब्धि के लिये सच्ची इच्छा – यही पहला बड़ा कदम है। इसके बाद बाकी सब कुछ सहज हो जाता है। संघर्ष एक बड़ा पाठ है। याद रखो, संघर्ष इस जीवन में बड़ा लाभदायक है। हम संघर्ष में से होकर ही अग्रसर होते हैं, यदि स्वर्ग के लिये कोई मार्ग है, तो वह नरक में से होकर जाता है।''[८]

७. प्रत्येक मनुष्य की रुचि व क्षमता भिन्न होती है। अत: हमें किसी अन्य से प्रतिस्पर्धा न कर वरन् अपने आप से ही करनी चाहिए। हमें किसी के पैर खींचने की बजाय अपनी क्षमताओं को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। इसे हम एक घटना से समझ सकते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने एक बार अपने छात्रों के सामने तख्ते पर एक रेखा खींचकर कहा, 'इसे बिना मिटाये छोटी करके दिखाओ'। तब एक बालक ने उस रेखा के समीप दूसरी बड़ी रेखा खींच दी। तब रामतीर्थ ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि यही पद्धति तुम्हें अपने जीवन में अपनानी है। दूसरों को पीछे ढकेलकर आगे मत बढ़ना, बल्कि तुम ऐसे बड़े काम करो कि दूसरे स्वयं छोटे हो जाएँ।

८. यदि हम निरन्तर स्वस्थ संघर्ष करते रहें, तो अन्त में हमें सफलता मिलेगी ही, परन्तु उससे पहले हमें असफलताओं को भी सहर्ष स्वीकार करना होगा। क्योंकि असफलाताएँ हमें सिखाती हैं कि हमने कहाँ गलती की थी। स्वामीजी कहते हैं, ''प्रारम्भ में सफलता न भी मिले, तो कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिल्कुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है।''[९]

९. अपने आदर्श के प्रति श्रद्धा और दृढ़ता वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक पौधे के लिए जल और वायु। अपने आदर्श के प्रति इतनी श्रद्धा हो कि उसके लिये हमारे प्राण पखेरू भी उड़ जायँ तो, हमें तनिक भी झिझक न हो। अपने आदर्श में ऐसी दृढ़ता हो कि सारा संसार एक ओर हो जाये और हम अपने आदर्श के साथ दूसरी ओर, तो भी हम टस-से-मस न हों।

१०. अधिकांशत: हम आदर्शों की कसौटी पर दूसरों को कसते हैं कि वे भ्रष्ट हैं, मिथ्याचारी हैं इत्यादि। परन्तु आदर्श की कसौटी पर हमें स्वयं को कसना चाहिए, आदर्श की धुरी पर स्वयं का अवलोकन करना चाहिए। आदर्श-

पालन में विफल होने पर स्वयं के लिए कड़ाई बरतनी चाहिए, जबकि दूसरों के लिये हमें उदार होना चाहिए कि वे प्रयास तो कर रहे हैं।

अभिभावकों का दायित्व

जिस प्रकार शरीर के किसी एक ही अंग की पुष्टि की जाये और अन्य अंगों की नहीं, तो वह शरीर सम्पूर्णत: पुष्ट नहीं हो सकता। यदि आहार में कोई एक ही पोषकतत्त्व दिया जाय, तो वह व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रूप से सबल नहीं हो सकता। उसी प्रकार छात्र-जीवन में सभी प्रकार के आचार, व्यवहार, विद्या और आदर्श की शिक्षा आवश्यक है। कुछ अभिभावक अपनी संतान को मात्र आजीविका उन्मुखता तक ही सीमित रखते हैं। इससे उन छात्रों में आदर्श का अभाव, हृदय की संकीर्णता और परिपक्वता का अभाव हो जाता है। बच्चे जब बचपन से ही अपनी स्वार्थसिद्धि के मार्ग के अभ्यस्त हो जाते हैं, तो वे समाज और देश के प्रति भी कोई उत्तरदायित्व वहन नहीं करते। विचार कीजिए कि कहीं हम अपने बच्चों को मात्र पैसा कमाने की मशीन बनना तो नहीं सिखा रहे हैं।

किसी देश या जाति के लिए उनके पूर्वजों की आदर्श-परम्परा उन्हें अनुप्रेरित करती है। वह उन्हें गर्व प्रदान करती है। उन्हें एक आदर्श मार्ग दिखाई देता है कि मेरे आदि पुरुषों ने ऐसी विषम परिस्थितियों में भी अपना निर्णय अपने आदर्श को ही समर्पित किया और मुझे भी वैसा ही करना चाहिए। श्रीरामचन्द्र जी को चौदह वर्ष का वनवास होने पर सीताजी कहती हैं कि वे उनकी अर्धांगिनी है और उन्हें सुख-दुख में अपने पति के साथ रहना चाहिए। लक्ष्मण अपने भ्राता को अकेले नहीं जाने देना चाहते, अत: वे भी उनके साथ वन चले जाते हैं। जब भरत अपने ननिहाल से वापस आकर अपने भ्राता के वनगमन का समाचार पाते हैं, तब वे उन्हें वापस लाने पैदल ही निकल पड़ते हैं। श्रीराम को वापस लाने का वे यथाशक्ति प्रयास करते हैं। वे विभिन्न प्रकार से तर्क देते हैं कि अब वनवास की आवश्यकता ही नहीं, यदि वनवास अनिवार्य है, तो आप के स्थान पर मैं चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण करूँगा, अत: राम ही अयोध्या के राजा बनें। परन्तु राम भी अपने वनवास पर अटल रहते हैं। अन्त में भरत भी राज्य करने से असहमत होकर श्रीराम की पादुका को अयोध्या में सिंहासन के सामने रखकर स्वयं एक कुटिया बनाकर चौदह वर्ष बिताते हैं। उनकी वंश परम्परा रही है -

रघुकुल रीति सदा चली आई।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई।।

जिस वंश में, परिवार में ऐसा प्रेम और त्याग का आदर्श जीवित हो, उनके वंशज सदैव आदर्शवान होगें।

इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भाई ने भाई का गला काटकर राज्य हड़प लिया। किसी ने पिता को बंदी बनाकर राज्य हथिया लिया। पर क्या वे कभी इतिहास में गौरव का स्थान पायेंगे? कदापि नहीं। अत: अभिभावकों का दायित्व है कि वे परिवार में ऐसे आदर्श की नींव रखें, जिस पर आदर्श वंश-परम्परा स्थापित हो। आइए, हम अपनी संतानों को आदर्शवादी बनायें कि किसी भी वृद्ध को अब वृद्धाश्रम की चौखट पर न जाना पड़े।

आदर्श जीवन : नींव का पत्थर

जो आदर्शमय जीवन जीते हैं, वे सबके लिए प्रकाश स्तम्भ की भाँति हो जाते हैं, वे सबके पथप्रदर्शक हो जाते हैं। हम यदि इतिहास के झरोखे से झाँककर देखें, तो ऐसे ही कुछ 'नींव के पत्थर' हमें अब भी अनुप्राणित करते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव – वे ज्वलन्त त्याग की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने कभी कोई भौतिक संचय नहीं किया। इतना ही नहीं, उनका त्याग इतनी चरम सीमा में था कि वे पैसों को स्पर्श भी नहीं कर पाते थे। वे धार्मिक कट्टरता के युग में सर्वधर्म-समन्वय के प्रणेता थे। उन्होंने विभिन्न धर्मों की साधना करके समस्त संसार को बताया कि सब एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, परन्तु सबके पथ भिन्न हैं।

श्रीमाँ सारदा देवी – वे मातृत्व की आदर्श थीं। दुराचारी व्यक्ति भी यदि उन्हें माँ कहकर पुकार लेता, तो वे उसे शरण दे देती थीं। वे स्वयं कहा करती थीं कि वे सज्जन और दुर्जन दोनों की ही माँ हैं।

राजा हरिश्चन्द्र – वे सत्य पालन के लिए पूजे जाते हैं। इन्होंने सत्य पालन हेतु अपना राज्य दान में दे दिया। सत्य के लिये अपनी स्त्री और पुत्र को भी बेच दिया, यहाँ तक कि स्वयं को बेचकर एक चाण्डाल का कार्य किया।

श्रवणकुमार – वे माता-पिता की सेवा के अनुपम उदाहरण थे। आर्थिक दृष्टि से सक्षम न होने के कारण उन्होंने अपने दृष्टिहीन माता-पिता को काँवर में बैठाकर तीर्थयात्रा कराई थी।

सीताजी – भगवती सीताजी को पद-पद पर यातनाएँ और कष्ट प्राप्त होते हैं, परन्तु उनके श्रीमुख से भगवान

रामचन्द्र के प्रति एक भी कठोर शब्द नहीं निकलता। सब विपत्तियों और कष्टों का वे कर्तव्य-बुद्धि से स्वागत करती हैं और उसे भलीभाँति निभाती हैं। उन्हें भयंकर अन्यायपूर्वक वन में निर्वासित कर दिया जाता है, परन्तु उससे उनके हृदय में लेशमात्र भी कटुता नहीं है। यही सच्चा भारतीय आदर्श है।

भारत की भूमि आदर्श की भूमि है। यहाँ का इतिहास, यहाँ के आदर्शमय संस्कार अत्यन्त महिमामंडित हैं। यहाँ ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं, जहाँ आदर्श के लिये महापुरुषों ने अपना सर्वस्व त्याग दिया।

स्वामी विवेकानन्द एक सार्वभौमिक आदर्श

स्वामी विवेकानन्द जी समस्त मानवजाति के लिये एक आदर्श स्वरूप हैं। वे कुशाग्र बुद्धि के आदर्श छात्र थे। युवाओं के लिए वे एक आदर्श युवा थे, जिन्होंने एक सार्थक युवा जीवन जीकर दिखाया। वे आदर्श देशभक्त भी थे, जिन्होंने पराधीन राष्ट्र में देशभक्ति की चेतना जागृत की। समाजसेवियों के लिए वे आदर्शस्वरूप हैं, क्योंकि उन्होंने 'शिवभाव से जीवसेवा' द्वारा सेवा का स्वरूप दिखाया। धार्मिक नेता के रूप में वे एक अनुपम आदर्श हैं, जिन्होंने हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए भी सर्वधर्म-समन्वय का उपदेश दिया। वे एक आदर्श संन्यासी हैं, जिन्होंने धन, यश, स्त्री आदि सभी प्रलोभनों के मध्य रहते हुए भी एक आदर्श संन्यासी का जीवन यापन किया।

उपसंहार – बुद्धि ही मनुष्य को पशुओं से भिन्न बनाती है। अत: मनुष्य में ही उच्चतर आदर्शों की ओर अग्रसर होने की शक्ति निहित होती है। जिस प्रकार भवन-निर्माण हेतु नक्शे की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीवन-गठन के लिए आदर्श की आवश्यकता होती है। विद्वत्ता दिखाना और उसका जीवन में पालन करना, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। जीवन तो दिखाने से नहीं होता, जीवन तो बनाना पड़ता है। कई बार हम जो कुछ करते हैं, उसे ही आदर्श प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं, पर वास्तव में हमें अपना जीवन कुछ ऐसे गठित करना चाहिए कि हम वही करें, जो आदर्शमय हो।

आदर्श की शिक्षा बचपन से ही दी जानी चाहिए क्योंकि जो शिक्षा बचपन से दी जाती है, वह बच्चे का जीवन निर्धारित करती है। हम यदि उसे स्वार्थ, भ्रष्टाचार और असत्य की शिक्षा देते हैं, तो एक दिन वह भी आयेगा, जब वही संतान हमसे ही झूठ बोलेगी, हमसे ही छल करेगी। पर यदि हमने उसे आदर्श की शिक्षा से ओत-प्रोत कर दिया, तो हम निश्चिंत हो सकते हैं कि वह हमसे, समाज से और राष्ट्र से कभी छल नहीं करेगी।

आइए ! हम सब आदर्श की मशाल लेकर जीवन यापन करें और हमारा जीवन हमारे आदर्शों का अनुवाद हो जाये। ○○○

सन्दर्भ सूत्र – १. विवेकानन्द साहित्य, २.१५६ **२.** वही, ९.१९२ **३.** वही, २.१५६ **४.** वही, २.१५६ **५.** वही, २.१५६ **६.** वही, ४.२८६ **७.** वही, १०.६२ **८.** वही, ३.९६ **९.** वही, २.१५६.

बीती बातें बीते पल

गेरुए वस्त्र की महिमा

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के संघाध्यक्ष थे। बात लगभग १९६६ की है। तब महाराज रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट ऑफ कल्चर के अध्यक्ष थे। उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में दीक्षान्त समारोह में सम्बोधन के लिए आमन्त्रित किया गया था। वे ऐसे प्रथम संन्यासी थे, जिन्हें इस प्रकार के दीक्षान्त समारोह को सम्बोधित करने के लिए कहा गया था।

दीक्षान्त समारोह में वक्तृता के समय प्रचलन के अनुसार एक विशेष पोशाक (गाउन) पहननी पड़ती है, महाराज को भी पहनने के लिए कहा गया। तब पूजनीय महाराज ने वहाँ उपस्थित अधिकारियों को एक घटना सुनाई। महाराज जब कराची स्थित आश्रम के सचिव थे, तब डॉ. राधाकृष्णन् आश्रम में आए हुए थे। उस समय वे जब भी इंग्लैण्ड की ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी में व्याख्यान के लिए जाते, तो उन्हें कराची से होकर जाना पड़ता था। वे चाहते तो एक सुख-सुविधा से सम्पन्न होटल में रुक सकते थे, किन्तु वे आश्रम में ही रुकते थे। स्वामी रंगनाथानन्दजी ने कहा, "वे हमेशा मुझे कहते थे, 'महाराज मुझे आपके (गेरुए) कपड़ों से ईर्ष्या होती है।' – उनके कहने का अर्थ था कि गेरुए वस्त्र से कोई श्रेष्ठतर वस्त्र नहीं है, इसकी कोई तुलना नहीं है।" महाराज ने तब वहाँ उपस्थित अधिकारियों से कहा, "यदि फिर भी आप चाहते हैं कि मैं आपकी यह विशेष पोशाक पहनूँ, तो मैं तैयार हूँ। किन्तु क्या गेरुए वस्त्र के ऊपर यह पोशाक पहनना उसका अपमान नहीं होगा?" इसके बाद वहाँ के अधिकारियों ने महाराज से वह पोशाक पहनने के लिए नहीं कहा। ○○○

सारगाछी की स्मृतियाँ (६१)

स्वामी सुहितानन्द

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

०१-०२-१९६१

प्रश्न – 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' का क्या अर्थ है?

महाराज – नैव किंचित् करोमीति का अर्थ है – मैं देह-मन-बुद्धि नहीं हूँ। इसलिए इस देह-मन-बुद्धि से जो कुछ कर्म-संस्कार उत्पन्न होता है, मैं उस कर्म से मुक्त हूँ। क्या ठाकुर और माँ को सदा अपने स्वरूप का बोध रहता था? माँ ने कहा है कि समय-समय पर भूल जाती हूँ। जैसे खेल देखते समय हमलोग कभी-कभी खेल के साथ तदाकार हो जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं। किन्तु वे लोग स्वाधीन हैं। ठाकुर ने जैसा कहा है – रेलगाड़ी के यात्री के हाथ में चाबी नहीं रहती है, किन्तु कर्मचारियों के हाथों में चाबी रहती है, वे लोग स्वेच्छया चढ़-उतर सकते हैं।

प्रश्न – अवतार-चिन्तन का क्या अर्थ है?

महाराज – ऐसा ध्यान करना – मैं देह-मन-बुद्धि नहीं हूँ, मैं ठाकुर और माँ के पास बैठा हूँ। दोनों ही चिन्मय हैं। शरीर का स्थूल-सूक्ष्म प्रत्यक्ष है। स्थूल शरीर से कर्म हो रहा है और सूक्ष्म शरीर में कर्म का संस्कार रहता है।

ठाकुर और माँ क्या हैं? वही निर्गुण सच्चिदानन्द ने ही तो एक बड़े छिद्र द्वारा एक उपयोगी फ्रेम तैयार करके उसके ही द्वारा संसार का मार्ग-दर्शन करने हेतु कुछ लीला की है। जो रामकृष्ण हुए हैं, वे ही गौरांग हुए थे, रामकृष्ण गौरांग नहीं हुए थे। दोनों लोगों का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। समाज में ब्राह्मण का अधिक सम्मान है, इसीलिए ब्राह्मण कुल में आए हैं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य भी ब्राह्मण थे। इसके पहले राम, कृष्ण, बुद्ध, क्षत्रिय थे।

इस जगत में कहीं कुछ भी चमत्कार नहीं है। बिना कार्य के कोई प्रभाव नहीं होता। बिना कारण के कार्य नहीं होता। इसका मूल कहीं-न-कहीं रहता ही है।

क्या राजयोग में नहीं पढ़ा है कि योगी सब कुछ कर सकते हैं? स्वामीजी ने लाटू महाराज का नाम 'अद्भुतानन्द स्वामी' दिया है। यह बाह्यरूप से चमत्कार लगता है, किन्तु अद्भुत कार्य है ! अन्तस्तल में प्रवेश कर देखने पर पता चलेगा कि उनका संस्कार था, इसीलिए वे आत्मीयता, निकटता का बोध करते थे।

हाँ, यदि कोई चमत्कार है, तो वह है अवतार-लीला – जो परब्रह्म हैं, वे ही मनुष्य के समान जगत में आकर बातें करते हैं, कार्य करते हैं, मनुष्य के समान चलते-फिरते हैं। किन्तु उन परब्रह्म का कोई क्षय-व्यय नहीं होता, वे उस समय भी परब्रह्म ही रहते हैं।

अवतार-लीला में जो प्रेम, माधुर्य, ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है, वह अवर्णनीय है। चैतन्यदेव ने आठारनाला से देखा कि एक कृष्ण-वर्ण का शिशु मुरली बजा रहा है। वे शीघ्र ही अपने सभी अनुयाइयों को छोड़कर दौड़ते हुए सीधे जगन्नाथ का आलिंगन करने चले गए। वे सब कुछ चिन्मय देख रहे थे न। सार्वभौम ने तो उन्हें पंडों से सुरक्षित बचाकर अपने घर में रख लिया था। वह गीत सुना है क्या – 'आज कोकिल कूजने'? यह सब गीत सुनकर रहा नहीं जाता है, रोदन होने लगता है। छोटे बच्चे नाच-नाचकर गाना गाते हैं। कालीकीर्तन ज्ञानमिश्रित भक्ति है, वैष्णवों के भजन में रागभक्ति है।

स्वामी विशुद्धानन्द (जितेन महाराज) कहते हैं, ठाकुर को पकड़े रहो। यदि कोई उनके व्याख्यानों को निष्ठापूर्वक और गंभीरता से पढ़े, तो वह समझ जाएगा कि ठाकुर को पकड़े रहने का क्या अर्थ है। उनका ठाकुर को पकड़े रहना का अर्थ है, जैसे ठाकुर माँ काली को पकड़े रहते थे। ठाकुर के माध्यम से वे गीता, उपनिषद, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, ज्ञानयोग, भक्ति आदि की सभी बातें कहते जाते हैं, वे अद्वैतवाद की समस्त श्रेष्ठ बातें कहते हैं।

वैष्णवों की यह जो बात है – 'नित्यसिद्ध कृष्ण प्रेम, साध्य कभु नय' – अर्थात् नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम कभी भी

साध्य नहीं है, यह तो ज्ञान की बात है, वेदान्त की बात है। अर्थात् इस समय मेरे देह, मन और बुद्धि का संस्कार चला जाएगा और मैं आनन्दमय कोष में अवस्थित रहूँगा। वैष्णवों का जो नित्य वृन्दावन है, वह भी आनन्दमय कोष में अवस्थित रहना ही है। यहाँ भी पूर्व अभ्यासवत् उपासना करते-करते क्रममुक्ति हो जाती है, किन्तु उपासना नहीं करने से किसी को सत्कर्म करके ब्रह्मलोक में जाने पर वापस आना पड़ता है। पुराण में जय-विजय की कथा है, किन्तु विश्वास नहीं होता है। जो विष्णु के द्वारपाल होंगे, क्या उनका व्यवहार कभी भी खराब हो सकता है?

हमारे ज्ञानमार्गी दुराग्रही हो गए हैं – वे सोऽहम् छोड़कर कुछ दूसरा नहीं कहते ! भक्तिमार्गी भी दुराग्रही होते हैं – सोऽहम् क्या है, समझेंगे नहीं और कहेंगे, अरे, यह तो है ही ! यदि बुद्धि तीक्ष्ण हो, तो २० वर्षों तक काष्ठवत् बैठे रहने से अनुभव होगा ही। किन्तु उपासना करके मनोवृत्ति को उधर की ओर प्रवर्तित करने के लिये तैयार नहीं करने से मन स्थिर नहीं रहेगा। मस्तिष्क की शक्ति और स्नायु को सबल बनाना होगा।

ठाकुर ने कहा है, जो मनुष्य हैं, वे तो जीवन्मृत हैं। अर्थात् कोई भी बाह्य वस्तु उन्हें विचलित नहीं कर सकेगी। संसार जलकर भस्म हो जाय, चाहे कुछ भी हो जाए, किन्तु वह काष्ठवत् बैठा रहेगा।

तुम लोग यदि सच्चे भाव से, निष्ठापूर्वक ठाकुर के नाम पर आओ, तो तुम्हें कोई भय नहीं है। जानते नहीं हो, कौन आए हैं – वे ही परब्रह्म इस बार आए हैं। कहाँ, कैसे, क्या होता है, सब हमें ज्ञात है। क्योंकि प्रधान कार्यालय की फाइल हमारे हाथ में है। यदि मान, सुख, भोजन, अधिक कार्य करने का सुअवसर पाने आदि किसी स्वार्थ से नहीं आए हो, तो तुमलोगों को कोई भय नहीं है।

श्रीमद्भवद्गीता के विभूतियोग नामक अध्याय में हिन्दू धर्म की सभी बातें कुछ-कुछ मात्रा में हैं। उसमें पुराण, इतिहास, वेदान्त, दर्शन सब कुछ है। सामान्यतया मनुष्य कोई ऐश्वर्य या कुछ महान देखकर ही स्तब्ध और आश्चर्यचकित हो जाता है। कोई महान पुरुष आये हुये हैं, ऐसा सुनकर ही लोग उन्हें देखने के लिये दौड़े चले जाते हैं। मनुष्य की इस प्रवणता से, आकर्षण से ईश्वर के साथ योग की व्यवस्था इस विभूतियोग में है। विराट वटवृक्ष, विशाल समुद्र देखकर मनुष्य स्वभावत: आकर्षण का अनुभव करता है। **(क्रमशः)**

काव्य सरिता

मेरे प्रिय प्रभु राम

स्वामी ओजोमयानन्द, बेलूड़ मठ

मेरे प्रिय प्रभु राम, सुमिरन कर यह नाम ।
कहे हनुमान बलवान, जप राम राम श्रीराम ।।
जो जीव जगत सुखधाम, सीय जपे रमे जो नाम ।
सुमिरन कर शुभनाम, मेरे प्रिय प्रभु राम ।।
मेरे प्रभु गुरु भगवान, शिव सदा सुमिर जो नाम ।
सबको मुक्ति देत जो नाम । मेरे प्रिय प्रभु राम ।।
भक्तों भजो- भजो यह नाम । तुलसी करत सदा गुणगान ।
मन भज श्रीराम राम, मेरे प्रिय प्रभु राम ।।

दीनदयाल रामकृष्ण को

दीनदयाल ओझा, जैसमलेर

जन-मन ज्योति विवेक जगे ।
उबरे विश्व मनुज अघ तम सों, जो दिन रैन पगे ।।
सकल सुपथ गामी बन सद् धर काहू को न ठगे ।
पावन पूत कर्म गति मति हों कलंक न काहू लगे ।।
भज मन कपट म्लान भाव उर प्रभु अवलम्ब भगे ।
'दीन' दृढाश्रय रामकृष्ण को कबहु न उर बिलगे ।।

होमार्पण

चन्द्रमोहन, टुंडला

अखण्ड मधुमय ब्रह्म तुम्हीं, तुम विद्या ज्ञान प्रदाता हो ।
मुझको चरणों में रख लेना, तुम ज्योतिरूप विधाता हो ।।
पंचतत्त्व मेरे अन्दर, शुद्ध भाव को प्राप्त करें ।
पाँचों कोष शमित होकर, प्रेमास्पद रस का पान करें ।।
शब्द रूप रस गन्ध सभी, तेरी सदा खबर लायें ।
स्पर्श करूँ तो चरण तेरे, सब भाव तुझी में समा जायें ।।
ज्ञानप्राप्ति की बाधायें, तेरी किरपा से कट जायें ।
मन वचन कर्म सब पावन हो, भाव काम के मिट जायें ।।
स्वर्ग आदि की चाह न हो, मन में हो तेरी ही बैठक ।
तन मन धन सब तेरा हो, हों पत्नी, पुत्र तेरे सेवक ।।
मन में हो वास न विषयों का, जल जायें सभी तुझमें मिलकर ।
तत्त्वज्ञान के योग्य बनूँ, दुर्गुण छूटें सब तर्पण कर ।।
गुरुमुख के वाक्य प्रकट होकर हृदय में बोध जगा पायें ।
एकत्व बोध मैं कर पाऊँ, प्राणों में ब्रह्म समा जायें ।।

निवेदिता की छात्रा

प्रव्राजिका भारतीप्राणा

(भगिनी निवेदिता की जन्म-शताब्दी के अवसर पर २९ अक्तूबर १९६६ ई. के दिन कलकत्ते के महाजाति-सदन में अनुष्ठित जनसभा में प्रदत्त उद्घाटन-भाषण के चुनिंदा अंश। इसे विवेक-ज्योति के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के जुलाई १९६७ अंक से हिन्दी में अनुवाद किया है। – सं.)

१९०२ ई. में, बोसपाड़ा लेन के उस छोटे-से स्कूल-भवन में जब मैंने पहली बार भगिनी निवेदिता का दर्शन किया, उस समय मुझे जरा-सी भी कल्पना न थी कि ये विदेशी महिला (आगे चलकर) एक दिन भारतीय इतिहास में एक असाधारण भूमिका निभाने वाली हैं। कलकत्ते का समाज महिला ईसाई-मिशनरियों द्वारा परिचालित विद्यालयों से खूब परिचित था, परन्तु हिन्दू भावधारा से पूर्णत: अनुप्राणित किसी विदेशी महिला द्वारा परिचालित विद्यालय के विषय में लोगों ने कल्पना तक नहीं की थी। अत: जैसा कि स्वाभाविक था, लोगों के मन में उनके प्रति शंका तथा द्विधा का भाव था। अपनी जिस कठोर साधना के बल पर निवेदिता इन अत्यन्त पुरातनपन्थी प्राचीन परिवारों की दुर्भेद्य प्राचीरों को भेदकर उनके अन्त:पुर की कन्याओं को अपने विद्यालय के प्रांगण में एकत्र कर सकी थीं – आज के बालक-बालिकाओं को इसकी धारणा करा पाना बड़ा कठिन है। केवल अपने असाधारण त्याग तथा नि:स्वार्थता के कारण ही वे इस प्रबल बाधा रूपी अग्निपरीक्षा में सफल हो सकी थीं।

१९०२ से १९११ ई. के दौरान मुझे अनेक रूपों में निवेदिता को घनिष्ठ रूप से देखने का सौभाग्य मिला था। वैसे उस समय उनके उस असाधारण व्यक्तित्व के सम्पूर्ण तात्पर्य को समझ पाने की आयु अथवा बुद्धि मुझमें नहीं थी। एक शिक्षिका के रूप में उनके व्यक्तित्व की छाप आज भी मेरे मन में अमिट रूप से अंकित है। वे प्रतिदिन एक घण्टा इतिहास, भूगोल तथा प्रकृति-विज्ञान पढ़ातीं और स्वयं ही चित्रकला, अल्पना[१] तथा सिलाई की कला सिखाया करती थीं। वे स्वयं ड्रिल तथा व्यायाम करके हमें दिखातीं तथा सिखातीं, जिसकी उन दिनों कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था। उन्हीं से मैंने पहली बार स्किपिंग (रस्सी कूदना) सीखा। वे अपना कमरबन्ध खोलकर हमें स्किपिंग करने को देतीं। इतिहास की कक्षा में उनकी भावपूर्ण प्रस्तुति के फलस्वरूप पाठ्य विषय हमारी आँखों के सामने सजीव हो उठता। उन दिनों 'विज्ञान' शब्द आज की भाँति लोकप्रिय नहीं था। परन्तु आज मैं समझ सकती हूँ कि उन्होंने हमें विधिवत् विज्ञान की शिक्षा देने का प्रयास किया था। वे माइक्रोस्कोप लाकर हमें सूक्ष्म जीवाणु तथा रक्तसंचार आदि दिखाया करती थीं। उनके पास खड़े होकर माइक्रोस्कोप की सहायता से जीवविज्ञान सीखने के अभूतपूर्व अनुभव को मैं आज भी नहीं भूल सकी हूँ।

तत्कालीन पाश्चात्य अन्धानुकरण के युग में मैंने देखा है कि हमारी जैसी छात्राओं के मन में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा जगाने हेतु उनमें कितना आग्रह था! यदि कोई छात्रा किसी रोजमर्रे के उपयोग में आनेवाले किसी अंग्रेजी शब्द का अपनी मातृभाषा में पर्यायवाची शब्द नहीं बोल पाती, तो यह उन्हें परम अपमानजनक प्रतीत होता। अपने छात्र-जीवन के असंख्य उदाहरणों में से एक अनुभव के बारे में आज मैं बताऊँगी। भगिनी ने हम लोगों से पूछा था, 'बोलो, भारतवर्ष की रानी कौन है?' हम लोगों ने उत्तर दिया, 'सिस्टर, हम लोगों की रानी क्वीन विक्टोरिया हैं।'

सुनकर ऐसा लगा मानो उनके शंख के समान शुभ्र मुख पर किसी ने सिंदूर ढाल दिया हो। – भारत की बालिकाएँ अपने इतिहास की श्रेष्ठ नारियों का नाम तक नहीं जानतीं? यह तो बड़ा शोचनीय अध:पतन है! वे उत्तेजित होकर बोलीं, 'तुम लोग इतना भी नहीं जानती कि तुम्हारी रानी कौन हैं?' हम लोगों को विमूढ़ तथा मौन देखकर उन्होंने स्वयं ही उत्तर दिया, 'इंग्लैंड की अधीश्वरी क्वीन विक्टोरिया कदापि तुम लोगों की रानी नहीं हो सकती। हमारी रानी हैं – सीता।' वे 'सीता' शब्द पर जोर देते हुए बारम्बार उसी का उच्चारण करने लगीं।

इसी प्रकार वे भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रत्येक छोटे-मोटे विवरण को, न केवल बड़े मनोयोग के साथ समझ लेतीं, बल्कि परम श्रद्धा के साथ उन्हें अपना भी लेतीं। इसीलिये हम लोग देखते कि वे गंगाजी के घाट पर नाव में सवार होने के पूर्व किसी भी हिन्दू नारी के समान गंगाजी का जल उठाकर अपने सिर से स्पर्श करतीं। किसी भी मन्दिर या देव-विग्रह के सामने जाते ही वे प्रणाम की मुद्रा में अपने दोनों हाथ जोड़े रहतीं। केवल

१. चावल के रंगीन आटे से फर्श या दीवार पर चित्र बनाने की कला।

रीति-रिवाजों के पालन में ही नहीं; बल्कि भाषा, वेशभूषा, कला, संगीत – सभी क्षेत्रों में वे हमारे मन में राष्ट्रीयता के भाव को दृढ़तापूर्वक अंकित कर देने का प्रयास करतीं। तभी से हमारे विद्यालय में प्रतिदिन 'वन्दे मातरम्' गाना आरम्भ हो गया था। चाहे कितनी छोटी-सी भी कोई स्वदेशी वस्तु हो, वे उसे देवता के विग्रह के समान सम्मान देती थीं। अन्दमान के कारागार से राजबन्दियों के मुक्त होने के उपलक्ष्य में विद्यालय का मुख्यद्वार केले के तनों और मंगलघट से सजाया गया था। हम लोगों को गाड़ी में बैठाकर वे ब्राह्म स्कूल में ले जातीं, ताकि हम लोग उसके बरामदे में बैठकर बगल के लेडीज पार्क में आयोजित स्वदेशी सभा में हो रहे सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी का भाषण सुन सकें।

विद्यालय में पहली बार सरस्वती-पूजा का आयोजन निवेदिता ने ही किया था। मुझे स्मरण है कि कहीं छात्राओं की भावनाओं को आघात न पहुँचे, इसलिये देवी को केवल फल, मेवे, खजूर तथा मिठाइयों के ही भोग लगाये गये थे। याद है कि पुष्पांजलि देने के बाद हम लोग फल तथा मिष्ठान्नों का प्रसाद आँचल में बाँधकर घर ले गयी थीं। विद्यालय-भवन में खड़े होकर उन्हें खाने का साहस नहीं हुआ था। परन्तु बाद में उन्हीं के स्नेहपूर्ण व्यवहार के चलते हम लोग इन सामाजिक आचारों की बाधा को पार कर सके थे। यद्यपि उनकी ओर से इस विषय में जरा-सी भी शिकायत या अपेक्षा नहीं थी। इसीलिये अगली सरस्वती-पूजा के अवसर पर विद्यालय-भवन में ही पूरी-सब्जी आदि बनायी गयी थी। हिन्दू विधवा छात्राओं के आचार को ध्यान में रखते हुए निवेदिता तथा भगिनी क्रिस्टिन एक बार भी दुमंजिले से नीचे नहीं उतरीं। परन्तु पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद, हम लोगों के विशेष आग्रह तथा अनुरोध पर उन्होंने हमारे साथ ही बैठकर आनन्दपूर्वक प्रसाद ग्रहण किया था। ये स्मृतियाँ भी क्या भुलाई जा सकती है!

मेरे जीवन पर भगिनी निवेदिता का जो ऋण है, उसे कभी चुकाया नहीं जा सकता। मैंने पहली बार उन्हीं के साथ बेलूड़ मठ जाकर स्वामी विवेकानन्द जी का दर्शन किया और मेरा पहला मातृदर्शन भी उन्हीं के पवित्र सान्निध्य में हुआ था। अपनी सभी छात्राओं को पहली बार भवतारिणी-काली का दर्शन कराने हेतु वे ही उन्हें किराये की नौका में दक्षिणेश्वर ले गयी थीं। नाव से उतरने के बाद सबसे पहले हम लोग श्रीरामकृष्ण के उस छोटे-से कमरे में जाकर बैठी थीं। हमारे बीच बैठी हुई निवेदिता की वह ध्यानमग्न मूर्ति अब भी मेरे नेत्रों के समक्ष झिलमिलाती हुई दीख पड़ती है। म्लेच्छ विदेशी होने के कारण उन्हें मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। वैसे, मैं नहीं जानती कि इसके लिये उनसे बढ़कर कोई योग्य अधिकारी व्यक्ति था या नहीं। अस्तु, वे गंगा की ओर से चँदोवे के नीचे से होकर नाट्य-मन्दिर के अन्तिम छोर पर गयीं और वहीं से भवतारिणी-काली का दर्शन किया। उसी दर्शन से निवेदिता के मन में जो भावपूर्ण मानसिक उद्दीपना हुई, उसका हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। उस दुर्लभ दर्शन की स्मृति आज भी मेरे चित्त में स्पष्ट बनी हुई है।

जो चित्र मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष सर्वाधिक जाज्वल्यमान है – वह है श्रीमाँ के सान्निध्य में निवेदिता का। माँ जब जिस भी मकान में ठहरतीं, वहाँ मैंने भगिनी को अनेकों बार उनके समक्ष मुग्ध तथा तन्मय भाव से लम्बे समय तक बैठे देखा है। जिस समय वे श्रीमाँ को साष्टांग प्रणाम करतीं, उस समय उनके मुख-नेत्रों पर एक अवर्णनीय आनन्द का भावावेग झलक उठता। देखकर ठीक ऐसा लगता मानो एक छोटा शिशु स्वयं को माँ की गोद में, माँ को पाकर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा हो। एक बार श्रीमाँ ने ताड़-पत्र के एक छोटे पंखे के चारों ओर झालर लगाकर निवेदिता को उपहार के रूप में दिया था। माँ के हाथ से वह पंखा पाकर निवेदिता मानो भावविभोर हो गयीं और "इसे मातादेवी ने बनाया है, इसे मातृदेवी ने दिया है" – ऐसा बारम्बार कहते हुए अपने मस्तक से छुलाने लगीं। इसके बाद वहाँ जो लोग भी उपस्थित थे, उन्होंने उन सभी के मस्तक से उसका स्पर्श कराया। मैं भी वंचित नहीं रही। उनका आह्लाद देखकर श्रीमाँ बोल उठीं, 'देखते हो न, इस छोटी-सी चीज को पाकर निवेदिता को कितना आनन्द हो रहा है।' लौकिक दृष्टि से साधारण होने पर भी, निवेदिता की शुद्ध भक्ति तथा विशुद्ध प्रेम से युक्त दृष्टि में वह पंखा असाधारण हो उठा था।

मुझे उस दिन की भी याद आती है, जब निवेदिता के साग्रह आमंत्रण पर श्रीमाँ स्कूल-भवन में आयी थीं। उस दिन निवेदिता एक छोटी बालिका के समान अत्यन्त चंचल होकर दौड़धूप करने लगीं। उसी उपलक्ष्य में कवयित्री सरलाबाला सरकार द्वारा रचित एक कविता का हम लोगों

शेष भाग पृष्ठ ५६३ पर

योगसूत्र में सन्तोष

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

(स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी हैं। ये रामकृष्ण मठ चेन्नई से प्रकाशित होनेवाली 'वेदान्त केसरी' मासिक पत्रिका के पूर्व सम्पादक थे। इनकी पातंजल योग विषयक प्रवचनमाला काफी लोकप्रिय हुई है। पातंजल योग से सम्बन्धित तप, स्वाध्याय, शरणागति आदि कई लेख इनकी पुस्तक 'आनन्द की खोज' में पहले से ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब योग के शेष अन्य विषय जो अब तक अप्रकाशित हैं, महाराजजी ने विशेष रूप से विवेक ज्योति के पाठकों के लिये लिखे हैं, उन्हें प्रकाशित किया जा रहा है। - सं)

संतोष स्वस्थ मन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। असंतुष्ट व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण संतोष को स्थितप्रज्ञ योगी का एक गुण बताते हैं। अर्जुन के स्थितप्रज्ञ के लक्षण पूछने पर भगवान कहते हैं –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[१]

अर्थात् जब व्यक्ति मनोगत सारी कामनाओं को पूरी तरह त्याग कर आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

बारहवें अध्याय में भी आदर्श भक्त के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान उसे सतत संतुष्ट बताते हैं – **'संतुष्टः सततं योगी'**।

यही नहीं, पतंजलि मुनि ने अपने अष्टांग योग के एक अंग, नियम में संतोष को सम्मिलित किया है – **'शौच -संतोष-तप-स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधानानि नियमाः'**।[२] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास कहते हैं, ''सन्निहित साधन (केवल प्राण धारण योग्य उपलब्ध साधन) से अधिक के ग्रहण में इच्छाशून्यता ।'' इसका अर्थ है, ''अपने पास जो कुछ थोड़ा-बहुत है, उसमें संतुष्ट रहना और अधिक की इच्छा न करना, परिस्थिति-परिवर्तन का प्रयत्न न करना और न ही ईर्ष्या करना।''

संतोष का विषय इच्छाओं और कामनाओं से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। किसी इच्छा विशेष के पूर्ण होने पर, किसी कामना की पूर्ति पर, सांसारिक जीवन में हमें कुछ समय के लिए संतोष का अनुभव होता है। इससे भले ही कुछ समय के लिए मन शान्त हो जाए, पर हमारी लालसाएँ, व्यग्रता और चिन्ता पूरी तरह दूर नहीं होतीं। नयी वासनाएँ पुनः उदित हो जाती हैं। महाराज ययाति का यही अनुभव था। हजारों वर्षों तक विभिन्न प्रकार के भोग करने के बाद भी वे संतुष्ट नहीं हुए। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

अर्थात् कामनाओं के उपभोग से काम नष्ट नहीं होता, बल्कि घी डालने से अग्नि की तरह और वर्धित होता है।

यह तो हुई बात चेतन स्तर पर अपनी वासनाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करने की। इसके अलावा भी हमारे अचेतन मन में असंतोष गहरा दबा रहता है, जो हमें कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देता। अचेतन मन में प्रायः अनेक वासनाएँ कुछ छोटी, पर कई बहुत प्रबल वासनाएँ भी दबी रहती हैं। इनके कारण बाहरी दृष्टि से कोई प्रबल वासना न होते हुए भी एक अज्ञात असंतोष सदा बना रहता है। लेकिन यह भी सत्य है कि पूर्ण संतोष की स्थिति भी प्राप्त की जा सकती है। पतंजलि कहते हैं कि संतोष में प्रतिष्ठित होने पर अनुत्तम सुख प्राप्त होता है। ऐसा सुख जिससे अधिक सुख नहीं हो सकता – **संतोषादनुत्तमं सुखलाभः**।[३]

तैत्तिरीय उपनिषद की 'आनन्दवल्ली' में कहा गया है कि एक श्रोत्रिय व्यक्ति, जो वासनाओं एवं कामनाओं से यदि पीड़ित न हो, 'अकामहत:' हो, तो उसे सम्राट से लेकर हिरण्यगर्भ तक के सभी सुखों की प्राप्ति होती है। वहाँ सार्वभौम सम्राट, मनुष्य-गन्धर्व, देव-गन्धर्व, पितर आदि से प्रारम्भ कर इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मा तक बहुत से श्रेणी के प्राणियों का उल्लेख कर कहा गया है कि प्रत्येक श्रेणी के प्राणियों का सुख उससे पूर्व के श्रेणी के प्राणी के आनन्द से सौगुना होता है। ये सभी सुख एक कामना-वासनारहित मुनि को भी प्राप्त होते हैं। श्रुति का यह अद्‌भुत कथन यह सिद्ध करता है कि निष्कामता अथवा निर्वासना केवल नकारात्मक गुण ही नहीं है। वे तो मन की अतीव आनन्द और संतोष की स्थितियाँ हैं, जिन्हें अवश्य प्राप्त किया जाना चाहिए। इस स्थिति में मन के कामनाओं के बन्धन कट जाते हैं और बाह्य विषयों की प्राप्ति से पूर्ण रूप से निरपेक्ष आन्तरिक आनन्द का स्फुरण एवं अनुभव सदा बना रहता है। इसे ही आनन्द कहते हैं।

संतोष की साधना

संतोष को अपने जीवन में कैसे साधा जाय? सर्वप्रथम

तो यह बात अपने मन में दृढ़ता से और बार-बार गहराई से बिठा देनी चाहिए कि कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं और उनकी पूर्ति के प्रयत्न से वे और बढ़ती जाती हैं तथा वासना रहित होने से ही सुख और आनन्द मिलता है। कहा भी गया है –

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।[४]

अर्थात् संसार में कामसुख और देवताओं का महान सुख तृष्णाक्षय से प्राप्त होनेवाले महान सुख का एक सोलहवाँ अंश भी नहीं है।

माँ सारदा ने भी यही बात कही है, ''संतोष के समान धन नहीं और सहिष्णुता के समान गुण नहीं।'' वे कहा करती थीं कि यदि प्रार्थना करनी हो, तो निर्वासना की अर्थात् वासनारहित होने की प्रार्थना करनी चाहिए। यही उनकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना है। वासनाओं की समस्या का श्रीरामकृष्ण का समाधान बड़ा व्यावहारिक है। वे कहते थे कि छोटी-मोटी इच्छाओं को भोग तथा विवेक के द्वारा नष्ट करना चाहिए, किन्तु बड़ी वासनाओं को विचार के द्वारा ही दूर करना चाहिए। उनका भोग करने का प्रयत्न करने पर बन्धन में पड़ने का भय है।

हरिहरानन्द आरण्य अपनी व्याख्या में एक अन्य पद्धति का सुझाव देते हैं। किसी इच्छा की पूर्ति होने पर मन में जो संतोष और प्रशान्ति का भाव होता है, उसे स्मरण करके लम्बे समय तक मन में बनाये रखने से संतोष का भाव दृढ़ होता है। यदि सौभाग्य से हमें किसी वीतराग, पूर्ण संतुष्ट महात्मा या योगी का दर्शन करने का अवसर हुआ हो, तो हम उनकी मानसिक स्थिति की कल्पना एवं ध्यान कर सकते हैं। इसी को पतंजलि ने अपने एक सूत्र में कहा – **वीतरागविषयं वा चित्तम्**।[५]

सभी सुख भीतर ही हैं, बाहर नहीं। इसीलिए पतंजलि दृढ़ता से कहते हैं, संतोष से श्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है – **संतोषादनुत्तमं सुखलाभः**। ○○○

सन्दर्भ सूत्र – १. गीता, २.५५ **२.** पातंजल योगसूत्र, २.२४ **३.** वही, २.४२ **४.** महा. शान्तिपर्व **५.** योगसूत्र, १.३६

पृष्ठ ५६१ का शेष भाग

ने समवेत स्वर में पाठ किया था और श्रीमाँ के चरणों में पुष्पांजलि दी थी। निवेदिता एक शिशु के समान माँ के चरणों में बैठी थीं। उस समय उन्हें देखकर भला कौन कह सकता था कि ये ही वे असाधारण मेधा से सम्पन्न, प्रखर व्यक्तित्व वाली लोकनायिका हैं। श्रीमाँ को देखकर ही, उनके मन में भारतीय नारी के विषय में इतनी ऊँची धारणा हुई थी। सम्भवत: सारदानन्द जी एक दिन बातचीत के दौरान उनसे कह रहे थे, 'हमारे यहाँ की नारियाँ तो अज्ञानी हैं ...।' बात पूरी होने के पूर्व ही निवेदिता उत्तेजित होकर प्रतिवाद करते हुए बोलीं, ''भारतवर्ष की नारियाँ कदापि अज्ञानी नहीं हो सकतीं – क्या उस देश (अपनी मातृभूमि इंग्लैंड का वे 'वह देश' कहकर उल्लेख किया करती थीं) की महिलाओं के मुख से कभी ऐसी ज्ञान की बातें सुनने को मिली हैं?''

परन्तु भगिनी की अन्तिम स्मृति बड़ी करुणापूर्ण है। दार्जिलिंग जानेवाले दिन निवेदिता जब बीमार सुधीरा दीदी से विदा लेने आयी थीं, उस समय मैं वहाँ उपस्थित थी। मुझे भलीभाँति याद है कि उन्होंने अत्यन्त विषादपूर्ण भाव के साथ ही उनसे विदा ली थी। इसीलिये उनकी मृत्यु का समाचार हमें सहसा हुए वज्रपात के समान प्रतीत हुआ था। उनके परलोक-गमन का समाचार पाकर बोसपाड़ा लेन के सभी आयुवर्ग के सभी श्रेणी के नर-नारियों के अन्तर-हृदय से जैसी हाहाकार-ध्वनि उठी थी, वैसी अनुभूति हमें किसी परम आत्मीय व्यक्ति का देहान्त होने पर ही होती है। निवेदिता के निधन पर मैंने श्रीमाँ को अश्रुपात करते हुए कहते सुना था, ''जो होता है सुप्राणी, उसके लिये रोयें महाप्राणी। निवेदिता इसी देश की है, उस देश में उनके अर्थात् श्रीरामकृष्ण के भाव तथा सन्देश का प्रचार करने हेतु ही उसने वहाँ जन्म लिया था।''

आज वे इस जगत् में नहीं हैं। हम भारत की उन्हीं परम आत्मीया भगिनी निवेदिता का स्मरण करने के लिये यहाँ एकत्र हुए हैं। उनके पास जो कुछ भी महत्, सुन्दर तथा श्रेष्ठ था – वह सब उन्होंने पूरी तौर से भारत की; और विशेषकर बंगाल तथा कलकत्ते की बालिकाओं के लिये निष्काम भाव से एक पवित्र पूजा के रूप में निवेदित कर दिया था। मेरी कामना है कि हम लोग उनके इसी अतुल्य त्याग की मर्यादा को संरक्षित कर सकें और उनके जीवन पर चिन्तन करते हुए नि:स्वार्थ सेवा के तत्त्व को यथार्थ रूप से हृदयंगम कर सकें। ○○○

आध्यात्मिक जिज्ञासा (२३)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

प्रश्न – महाराज, कहा जाता है कि तोतापुरीजी दक्षिणेश्वर में आने के पहले अद्वैतविज्ञान में प्रतिष्ठित हो गये थे। हमलोग देखते हैं, एक दिन वे ठाकुर से वार्तालाप कर रहे हैं, धर्मचर्चा हो रही है। तब रात्रि में धूनी जल रही थी। एक व्यक्ति तम्बाकू पीने के लिये वहाँ से थोड़ी आग ले रहा था। तब तोतापुरीजी उसे चिमटा लेकर मारने दौड़े थे। वह देखकर ठाकुर हँस रहे हैं। वे कहते हैं – "क्या यही तुम्हारे ब्रह्मज्ञान की दौड़ है?" इससे ठाकुर क्या कहना चाहते हैं महाराज?

महाराज – कहते हैं कि यदि ब्रह्मज्ञान होगा, तो व्यवहार भी उसके अनुसार ही होगा। जो सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करेगा, तो क्या वह ब्रह्म को मारने के लिये दौड़ेगा? इससे यह एक बात सिद्ध होती है कि ब्रह्मज्ञानी का व्यवहार भी एक समान नहीं होता है। किसी का ऐसा ही क्रोधी स्वभाव होता है। वह स्वभाव गया नहीं। पहले था, अभी भी है। उसका कारण है कि ब्रह्मज्ञान तो हुआ है, किन्तु संस्कार के कारण व्यवहार होता है, उसकी पुनरावृत्ति हो रही है।

– क्या ब्रह्मज्ञान के बाद भी ऐसी क्रोधवृत्ति हो सकती है?

महाराज – हो सकती है, किन्तु वह निन्दनीय नहीं है। ऋषि लोग तो बहुत क्रोधी थे। बात-बात में शाप दे देते थे। जिसको वे शाप दे रहे हैं, वह भी उलटे उनको शाप दे देता है। ये मानो नाग साँप जैसा है, छूने से ही दंश मारने के लिये तैयार है।

– तो क्या तोतापुरीजी का अपूर्ण ज्ञान था?

महाराज –ज्ञान अपूर्ण नहीं था। किन्तु जो व्यवहार कर रहे हैं, उससे उनका मिथ्यात्वबोध रह जायेगा।

– व्यवहार में मिथ्यात्वबोध रहने पर ऐसा आचरण क्यों करेंगे? यदि मिथ्याबोध होता, तो क्या वे ऐसा क्रोध करते?

महाराज – वह क्रोध नहीं है, वह क्रोधाभास है।

– क्रोधाभास क्या? चिमटा लेकर मारने जा रहे हैं ! क्या वह क्रोधाभास है?

महाराज – वे मारेंगे क्यों?

– शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द जी) ने उल्लेख किया है कि ठाकुर के गुरुदेव में भी अपूर्णता थी, ठाकुर के सान्निध्य में आकर उन्हें पूर्णता प्राप्त हुई थी। यह कैसे?

महाराज – अपूर्णता माने, तोतापुरीजी शक्तिसत्ता को नहीं मानते थे। उसी शक्ति को उन्होंने ठाकुर के सान्निध्य में आकर स्वीकार किया है।

– वह एक अलौकिक घटना हुई।

महाराज – अलौकिक नहीं है। यदि अलौकिक मानते हैं, तो मिथ्या भी नहीं है।

– गंगाजी जी में जल नहीं होने के कारण तोतापुरीजी डूबकर मर नहीं सके। इससे उनकी अविद्या मानी जाय या माया। उन्हें ज्ञान हुआ, यह ठीक से समझ में नहीं आता महाराज।

महाराज – डूबकर नहीं मर सके, यह शिक्षाप्रद नहीं है। शिक्षाप्रद है माया का प्रभाव।

– अलौकिक या लौकिक घटना सभी तो माया का प्रभाव है।

महाराज – लौकिक या अलौकिक भेद सभी अपनी बुद्धि की क्षमतानुसार करते हैं। जिसे हमलोग बुद्धि से नहीं समझ सकते हैं, उसे अलौकिक कहते हैं। जबकि वैसी बात नहीं है। बात यह है कि तोतापुरी जी को क्या लाभ हुआ?

लाभ यह हुआ कि वे माया की सत्ता को समझ सके, माया के प्रभाव को समझ सके।

– कहा जाता है कि उन्हें दर्शन हुआ था।

महाराज – क्या दर्शन का अर्थ दो आँखों से देखना होता है?

– नहीं, कहते हैं कि सर्वत्र उन्होंने उसी जगन्माता का दर्शन किया था। जिस रात उस घटना का प्रसंग बता रहे हैं, उसी समय वैसा उन्हें दर्शन भी हुआ था, ऐसा कहा जाता है।

महाराज – वह हुआ था। यह 'दर्शन' शब्द बहुत गड़बड़ करता है। ब्रह्मज्ञान होता है, ब्रह्मदर्शन नहीं होता। इष्ट-दर्शन होता है, इसका अर्थ आँख से देखना थोड़े ही होता है। यदि आँख से देखना होता, तो सभी लोग देखते। आँख से दर्शन नहीं होता, बुद्धि शुद्ध होने पर दर्शन होता है। वह बुद्धि हम सबकी नहीं है। जब उस बुद्धि का उदय होता है, तब दृष्टि दूसरी प्रकार हो जाती है।

– महाराज ! शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित जो अद्वैतवाद है, उसमें उन्होंने माया के तत्त्व को पहले ही प्रतिष्ठित किया है, माया की बात कही है। क्या तोतापुरीजी उसी सम्प्रदाय के होकर उसे नहीं जानते थे?

महाराज – अरे, उन्होंने माया को मिथ्या कहा है, प्रतिष्ठा कहाँ किया है? मूल को ही काट दिया है।

– माया मिथ्या है, इसे तो शंकराचार्यजी ने बार-बार कहा है। उसी सम्प्रदाय के संन्यासी होकर तोतापुरीजी क्या उसे नहीं जानते थे?

महाराज – वे जानते थे, किन्तु माया का ऐसा प्रभाव है, इसे नहीं जानते थे।

– माया मिथ्या है, इसे वे जानते थे !

महाराज – इतना जानते थे।

– माया की शक्ति को वे स्वीकार नहीं करते थे। और महाराज ! वे शक्ति नहीं मानते थे, इसका अर्थ है कि ईश्वर का सगुण, साकार रूप हो सकता है, क्या उसे वे स्वीकार नहीं करते थे?

महाराज – साकार मत कहो, सगुण कहो। बात यह है कि गुण नहीं मानने से उसका व्यवहार कैसे हो रहा है? जब व्यवहार हो रहा है, तो गुण का आरोप किये बिना व्यवहार नहीं होता। किन्तु ब्रह्मज्ञानी को इसके मिथ्यात्व का बोध होता है, मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। व्यवहार होने पर भी व्यवहार मिथ्या है, इसका बोध रहता है। व्यवहार का प्रभाव कैसा है, जैसे – श्रीरामचन्द्रजी अवतार हैं, किन्तु सीताजी के खोने पर रोकर व्यग्र हो रहे हैं। ठाकुर अवतार हैं, वे अक्षय की मृत्यु होने पर जैसे हृदय में गमछा निचोड़ने जैसी पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं। माया के प्रभाव के अनुसार व्यवहार होता है। हमलोग जब विचार करते हैं, तब केवल एक दृष्टि से तत्त्व का विचार करते हैं। यह अन्य कई प्रकार का है, उस ओर हमलोगों की दृष्टि नहीं जाती। कहा गया है – "**तदैक्षत बहु स्याम प्रजायेयेति**" – उन्होंने इच्छा की, 'बहुत होऊँगा।' वे बहुत होंगे, इसका अर्थ है कि वे बहुत हो सकते हैं। केवल इतना ही नहीं, वे अज्ञान हो सकते हैं, क्रोधी हो सकते हैं, सब कुछ हो सकते हैं। अब प्रश्न उठता है, यदि वे हो सकते हैं, तो साधारण मानव और उनमें क्या अन्तर है? अन्तर यहाँ है कि यह सब मिथ्या है, उन्हें इसका हमेशा बोध रहता है। यह बोध हमेशा जाग्रत रहता है। शरीर धारण करने का दण्ड सबको भुगतना पड़ता है। ज्ञानी ज्ञानपूर्वक भोग करता है। मूर्ख रोते-रोते भोग करता है। ज्ञानी जान-बूझकर प्रारब्ध भोग करता है और अज्ञानी कष्ट से भोग करता है। एक दोहा है –

देहधरे का दण्ड सब कोई को होय।
ज्ञानी भोगे ज्ञान से मूरख भोगे रोय।।

(क्रमशः)

निर्मलता के स्रष्टा हम

पुरुषोत्तम नेमा

ठाकुर मुझमें बसे हुए हैं या मैं स्वयं समाय उनमें ।
जन्म-जन्म यह पारी खेली, रहा द्वैत की उलझन में ।।
साधन सीधा सरल सभी को, नाम रूप का बाँका है ।
निर्मलता अद्वितीय अनुपम सरल सारदा माँ का है ।।
ठाकुर रक्षक छाया तेरी भीड़-भाड़ या कि विजन में ।
विवेक ज्योति निर्धूम सदा ही उठती हृदय गगन में ।।
गुण-दोषमय युक्त जगत है बनें गुणों के द्रष्टा हम ।
भूलें न सन्देश जननी का निर्मलता के स्रष्टा हम ।।

बाल दिवस पर बाल-रचनाएँ

अनुशासन

कु. अदिति शंखपाल, नासिक

अनुशासन का अर्थ स्वयं पर नियंत्रण रखना है। आत्म नियंत्रण होने से ही हम नियमों का पालन कर सकते हैं। नियम-पालन के बिना कहीं भी व्यवस्था ठीक नहीं होती। अनुशासन व्यक्ति के जीवन की सफलता की कुंजी है। इससे व्यक्ति जीवन की ऊँचाइयों को पाता है। अनुशासित व्यक्ति सब काम समय से और व्यवस्थित करता है। सारी प्रकृति, ऋतुएँ अनुशासित हैं। नियंत्रित और नियमित जीवन को ही अनुशासन कहते हैं। अनुशासन के दो प्रकार होते हैं – आन्तरिक और बाह्य। विद्यार्थी जीवन में दोनों प्रकार के अनुशासन की बहुत आवश्यकता है। विद्यार्थी जीवन में बाह्य अनुशासन का अर्थ है – सुबह जल्दी उठना और रात को जल्दी सोना। माता-पिता, शिक्षकों का आज्ञा-पालन और सम्मान करना। उनकी बातें ध्यान से सुनना। पाठशाला से घर पहुँचकर कपड़े, पुस्तक, जूते-चप्पल आदि सही स्थान पर रखना। आन्तरिक अनुशासन है – इन्द्रियों, भावनाओं को नियंत्रित रखना, बोलते समय संतुलित रहना, अपनी बुरी आदतों को पनपने न देना। इसका अर्थ है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन जरूरी है। अनुशासन न हो, तो परिवार में सुख-शान्ति नहीं रह सकती। विद्यालय में अनुशासन न हो, तो शैक्षणिक कार्य ठीक से नहीं हो सकता। कक्षा में एक-दो विद्यार्थी भी उद्दंडता करें, तो पढ़ाई में व्यवधान होता है और शिक्षक ठीक से पढ़ा नहीं सकते। टिकट चाहे रेल का लेना हो या सिनेमा का, पंक्ति में शान्ति से खड़ा रहना आवश्यक है। अनुशासन से जीवन पुष्प समान होता है और न रहने पर पशु समान हो जाता है।

अनुशासन से जीवन में सद्‌गुणों का विकास होता है। अनुशासन से ही विकास के मार्ग खुलते हैं। लेकिन आज कुछ विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता देखने को मिलती है, जो उनके और समाज की व्यवस्था में हानिकर है। विद्यार्थी देर रात तक जगकर पढ़ाई न कर घंटों व्हाट्‌सअप, गेम आदि खेलते हैं, सबेरे देर से उठते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य, समय, धन और शिक्षा नष्ट होती है। विद्यार्थी शिक्षकों का सम्मान नहीं करते, जबकि प्राचीन काल में शिक्षकों को देवसदृश पूजते थे। अनुशासन से मानव-जीवन फूलों की तरह महकता है, सम्पूर्ण जीवन में चाँदनी की ठंडी का अनुभव होता है। अनुशासन के अभाव में लड़ाई-झगड़े, अशान्ति और अव्यवस्था होती है। शैक्षणिक कार्यों में बाधा होती है। इसलिये अनुशासन बनाये रखने के लिए छात्रों की दिनचर्या, लोकव्यवहार, चरित्र-निर्माण और नैतिक शिक्षा पर जोर देना चाहिए। उन्हें महापुरुषों की जीवनी और नैतिक कहानियाँ पढ़नी चाहिये, जिससे वे उनके अनुशासित जीवन से शिक्षा लेकर स्वयं अनुशासित बनने का प्रयास करें। क्योंकि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की प्रगति का मूलमन्त्र तो अनुशासन ही है।

बच्चों का आँगन

मुझे संस्कार दादा-दादी से मिले

कु. राधिका द्विवेदी, बिलासपुर

मैं और मेरी सहेलियाँ आपस में चर्चा कर रही थीं कि घर छोड़कर नये शहर में जाने पर किस चीज की कमी का अनुभव होगा। किसी ने शहर, होटल और सखी-सहेली का नाम लिया। किन्तु मेरी प्रिय सहेली ने कहा, नये शहर में अपने दादा-दादी की कमी खलेगी।

मैं अपने दादा-दादी के साथ बिताये उन सुनहरे पलों को याद करने लगी। वास्तव में मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे जन्म से ही दादा-दादी के साथ रहने का सौभाग्य मिला। मेरे माता-पिता दोनों सेवारत हैं। इस स्थिति में उनका समय छीनना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिये दादा-दादी का विशेष स्नेह और सुरक्षा हम भाई-बहन को मिला।

मैं दादा-दादी के साथ बिताये गये हर अवसर को याद करती हूँ। दादी मुझे अच्छे पकवान बना कर खिलातीं और नये व्यंजन बनाना सिखातीं। मुझमें अच्छी आदतों का संस्कार डाला। बड़ों को सम्मान करना सिखाया। कभी स्कूल में

शेष भाग पृष्ठ ५६९ पर

गीतातत्त्व चिन्तन (८/१५)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के मार्च, १९९१ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है सं.)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

धूमः (धूम्राभिमानी देवता) रात्रिः (रात्रि-अभिमानी देवता) कृष्णः (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) तथा (वैसे ही) षण्मासा दक्षिणायनं (दक्षिणायन के छः महीनों का अभिमानी देवता) तत्र (उस मार्ग से मरकर गमन करनेवाला) योगी (कर्मयोगी) चान्द्रमसं (चन्द्र सम्बन्धी) ज्योतिः (स्वर्गलोक को) प्राप्य (प्राप्त होकर) निवर्तते (वापस आ जाता है)।

"जिस मार्ग में धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, तथा दक्षिणायन के छः महीने के अभिमानी देवता हैं, उस मार्ग में (शरीर त्यागकर) गया योगी चन्द्र मण्डलरूपी स्वर्ग को प्राप्त होकर (अपने शुभ कर्म के फल को भोगने के पश्चात्) वापस लौट आता है।"

२४वें श्लोक में श्रीभगवान बता रहे हैं कि किस काल में मृत्यु होने से योगी को संसार में नहीं लौटना पड़ता। कहते हैं अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और जिन छह महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है, वह उत्तरायण का समय, इन समयों में मृत्यु होने से ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उन्हें इस संसार में फिर आना नहीं पड़ता। उसी प्रकार २५वें श्लोक में कहते हैं कि धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष और जिन महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर रहता है, वह दक्षिणायन का समय, इनमें मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति चन्द्रमण्डलरूपी स्वर्ग में भोगकर संसार में लौट आता है।

इसमें यह नहीं सोचना चाहिए कि कोई पाप कर्म में लिप्त व्यक्ति यदि दिन, शुक्ल पक्ष अथवा उत्तरायण में मरे, तो उसकी संसार के आवागमन से मुक्ति हो जायेगी अथवा जिसने जीवन भर तपस्या की, निष्काम कर्म में रत रहा, वह अगर रात में, कृष्ण पक्ष अथवा दक्षिणायन में मर जाय, तो उसे पुनः संसार में आना होगा। वास्तव में, अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण अथवा रात, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन

आदि को सामान्य भौतिक अर्थों में नहीं लेना चाहिए। वास्तव में, कालवाचक शब्द उनके अभिमानी देवताओं का निर्देश करते हैं। श्रुतियों में सब जड़ पदार्थों के अधिष्ठाता एक-एक अभिमानी देवता माने गये हैं। इसलिए दिन, रात, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन – ये सब जीवों को उन मार्गों में ले जानेवाले देवताओं के ही वाचक हैं। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण आदि देवताओं की क्रमशः उच्चतर श्रेणियाँ हैं, जो ब्रह्मवेत्ता पुरुष को क्रमशः उच्चतर दिशा में ले जाकर ब्रह्मलोक में पहुँचा देती हैं, जहाँ वह दीर्घकाल तक निवास करता है तथा जब ब्रह्मा मुक्त होते हैं, तो वह भी उनके साथ मुक्त हो जाता है। इसे ही क्रम-मुक्ति की अवस्था कहते हैं। इसलिए यहाँ पर ब्रह्मवेत्ता का तात्पर्य पूर्ण ज्ञानी से नहीं है। पूर्णज्ञानी के बारे में उपनिषद् कहते हैं – "**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते।**" अर्थात् उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष के प्राण निकलकर अन्यत्र नहीं जाते, वरन् यहीं सर्वव्यापी हो जाते हैं और वह ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है। यहाँ पर ब्रह्मवेत्ता का तात्पर्य अपरिपक्व ज्ञानी है, जो ब्रह्मलोक में निवास करते हुए ब्रह्मा की मुक्ति के साथ मुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार जिस मार्ग में धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन अभिमानी देवता हैं, वे सकाम कर्मयोगी को क्रमशः चन्द्रमण्डलरूपी मार्ग में ले जाते हैं, जहाँ वह अपने पुण्यकर्मों का भोग करके पुनः संसार में लौट आता है। इन दो मार्गों को ही छान्दोग्य आदि उपनिषदों में देवयान और पितृयान कहा गया है। गीता में जहाँ देवयान मार्ग में अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण की बात कही गयी है, छान्दोग्य उपनिषद् में उत्तरायण के बाद संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत आदि के अभिमानी देवताओं का वर्णन आता है, जहाँ कहा गया है कि जो जीव विद्युत तक पहुँच

जाते हैं, उनको एक अमानव पुरुष आकर ब्रह्म में प्रवेश करा देता है। वे फिर संसार में नहीं लौटते। भगवत्पाद शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (४/३/३) में विभिन्न उपनिषदों के आधार पर विद्युत से आगे वरुण, इन्द्र और प्रजापति के नाम और गिनाये हैं। अन्यान्य पुराणों में भी वर्णन मिलता है कि इस प्रकार ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए जीव वहीं निवास करते हैं और अन्त में ब्रह्मा के साथ वे भी मुक्त हो जाते हैं। पितृयान मार्ग से योगी क्रमश: धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के अभिमानी देवताओं के द्वारा चन्द्रमण्डल को पहुँचाये जाते हैं, जहाँ वे अपने पुण्यकर्मों का फल भोगकर फिर संसार में लौट आते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में पितृयान मार्ग में वही क्रम है, जो गीता में बताया गया है।

मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब दिन, रात, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन काल के नहीं, वरन् अभिमानी देवताओं के प्रतीक हैं और व्यक्तियों की गति अपने कर्मों के फलस्वरूप होती है, चाहे व्यक्ति किसी काल में क्यों न मरे, तो फिर महाभारत में भीष्म शरीरत्याग के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा क्यों करते हैं? वे तो ज्ञानी और विवेकी थे। वे कभी-भी शरीर त्यागकर देवयान के मार्ग में चले जा सकते थे, तो उन्होंने इतने दिनों तक बाणों की शय्या का कष्ट क्यों भोगा? इसके उत्तर में कहा गया है कि उन्होंने शास्त्र के वचनों का, लोकाचार का पालन करने के लिए यह कष्ट कहा। शास्त्रों में दक्षिणायन में मरना निन्दित माना गया है, अत: उस कथन की रक्षा के लिए उन्होंने यह सब किया। फिर उन्हें इच्छा-मृत्यु प्राप्त थी तथा युधिष्ठिर को नीति, धर्म आदि की शिक्षा भी देनी थी। शर-शय्या का दुख-कष्ट स्वीकार करने के ये भी कारण हो सकते हैं।

दोनों मार्गों का उपसंहार करते हुए अब २६वें श्लोक में कहते हैं –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। २६ ।।

हि (क्योंकि) जगत: (जगत् के) एते (ये दो प्रकार के) शुक्ल कृष्णे (शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान) गती (मार्ग) शाश्वते (सनातन) मते (माने गये हैं) (इनमें) एकया (एक से गया हुआ) अनावृत्तिम् (मोक्ष को) याति (प्राप्त होता है) अन्यथा (दूसरे के द्वारा गया हुआ) पुन: (फिर) आवर्तते (वापस आता है)।

''क्योंकि जगत् के ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें से एक से (अर्थात् शुक्ल मार्ग से) गया हुआ (जीव) मोक्ष को प्राप्त होता है तथा दूसरे (कृष्ण मार्ग) से गया हुआ (जीव) लौट आता है।''

यहाँ पर बता रहे हैं कि जगत् की शुक्ल और कृष्ण ये दो गतियाँ, जिन्हें देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग भी कहा जाता है, चिरन्तन हैं। जो लोग ईश्वर की सगुण भाव से उपासना करते हैं तथा भगवत्प्राप्ति के लिए अभ्यास करते हुए देह का त्याग करते हैं, वे शुक्ल गति को अर्थात् देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ दीर्घकाल तक निवास करते हुए कल्प शेष होने पर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाते हैं। फिर उनका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। जो लोग सकाम भाव से शास्त्रों के अनुरूप कर्म करते हैं, कर्मकाण्ड का अनुशीलन करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् कृष्ण गति (पितृयान मार्ग) से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति करते हैं और वहाँ अपने पुण्यकर्मों का फलभोग करके पुन: संसार में लौटते हैं और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ते हैं। ब्रह्मस्वरूप ज्ञान का प्रकाश करने में सहायक होने के कारण देवयान मार्ग को शुक्ल तथा ज्ञान के प्रकाश से रहित होने के कारण पितृयान मार्ग को कृष्ण कहा जाता है। ये दोनों गतियाँ शाश्वत हैं, इसलिए शास्त्रोचित उपाय से सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले को शुक्ल गति तथा कर्मकाण्ड की उपासना करनेवाले को कृष्ण गति मिलेगी ही।

किन्तु जो लोग धर्म विरुद्ध पापाचरण करते हैं, उन्हें मरने के बाद ये दोनों गतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, वरन् वे मृत्यु के बाद नरक आदि लोकों में जाते हैं और वहाँ अपने दुष्कर्मों का फल यातना और कष्ट के रूप में भोगकर पुन: संसार में पशु योनि अथवा निम्नतर मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। जो मनुष्य संसार में अत्यन्त गर्हित पाप-कर्मों में लिप्त होते हैं, वे मरने के बाद कीट-पतंगों के रूप में अनेक बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। फिर संसार में ऐसे भी लोग होते हैं, जो न अत्यधिक पुण्य कर्मों में लिप्त होते हैं और न अत्यधिक पाप कर्मों में, वे अपने ही स्वार्थ में डूबे रहते हैं। ऐसे लोग बारबार मरते हैं और बार-बार जन्म लेते हैं। धीरे-धीरे संसार के घात-प्रतिघातों से जब थोड़ा-सा विवेक जाग्रत होता है तब ये ईश्वर की ओर मुड़ते हैं।

अब अगले श्लोक में बता रहे हैं कि जो योगी इन दोनों गतियों को यथार्थता से जान लेता है, वह मोह से मुक्त हो जाता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ (हे पार्थ !) एते (इन दोनों) सृती (मार्गों को) जानन् (तत्त्व से जाननेवाला) कश्चन (कोई भी) योगी (योगी) न मुह्यति (मोहित नहीं होता) तस्मात् (इसलिए) अर्जुन (हे अर्जुन !) (तू) सर्वेषु कालेषु (सब काल में) योगयुक्त: (योगयुक्त) भव (होओ)

''हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को (यथार्थता से) जाननेवाला कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन ! तू सब समय ध्यानयोग से युक्त होओ।''

जो भी योगी यथार्थता से जान लेता है कि देवयान मार्ग से जाकर व्यक्ति दीर्घकाल तक ब्रह्मलोक का सुख भोगकर अन्त में क्रममुक्ति की अवस्था को प्राप्त करेगा और पितृयान मार्ग से चन्द्रमण्डल में जाकर स्वर्ग सुख का भोग करने के बाद फिर से दुखमय संसार में आना पड़ेगा, तो यह योगी स्वर्ग सुख के प्रति मोहित नहीं होगा। वह सब समय ईश्वर के स्मरण-चिन्तन में युक्त होगा, ताकि अन्त समय में प्रभु का स्मरण-मनन बना रहे, जिससे मरने पर प्रभु की प्राप्ति हो सके। इसीलिए भगवान अर्जुन को सब समय ईश्वर से युक्त होने का उपदेश देते हैं।

अध्याय के अन्त में ईश्वर से सतत युक्त योगी की महत्ता बताते हुए कहते हैं –

वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

योगी (योगी) इदम् (इसको) विदित्वा (जानकर) वेदेषु (वेदों में) च (तथा) यज्ञेषु (यज्ञों में) तप:सु (तपों में) दानेषु (दानों में) यत् (जो) पुण्यफलम् (पुण्य फल) प्रदिष्टम् (कहा है) तत् (उस) सर्वम् (सबको) एव (नि:सन्देह) अत्येति (पार कर जाता है) (और) आद्यम् (सनातन) परम स्थानम् (परम पद को) उपैति (प्राप्त होता है)।

''योगी इस (रहस्य) को जानकर वेदों (के अध्ययन) में, यज्ञों में, तपों में और दानों में जो पुण्यफल बताया गया है, उन सबका अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है।''

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से सात प्रश्न पूछे – (१) ब्रह्म क्या है? (२) अध्यात्म क्या है? (३) कर्म क्या है? (४) अधिभूत तथा (५) अधिदैव क्या हैं? ६) अधियज्ञ क्या है तथा (७) प्रयाणकाल के समय संयत चित्तवाले व्यक्तियों द्वारा आप कैसे जाने जाते हैं? श्रीभगवान अर्जुन के इन प्रश्नों के उत्तर इस ८वें अध्याय में देते हुए कहते हैं कि एकमात्र भगवान के अतिरिक्त जो कुछ है, वह सभी अनित्य है। एकमात्र भगवान को प्रत्यक्ष रूप से जानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। भगवान में चित्त समाहित करने से जो परम आनन्द प्राप्त होता है, वह वेदपाठ, यज्ञ, दान, तपस्या इत्यादि के द्वारा प्राप्त स्वर्गादि लोकों की तुलना में अनन्तगुणा अधिक है। ये स्वर्गादि लोकों के प्राप्तिरूपी फल अनित्य, अस्थिर, अपूर्ण और विनाशशील हैं। इसी दृष्टि से कहा गया कि आत्यन्तिक भाव से ईश्वराधान में युक्त योगी वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तप और दान के जो पुण्यफल बताये हैं, उनका अतिक्रमण कर जाता है। श्रीमधुसूदन सरस्वती अपनी टीका में लिखते हैं – ''अध्याय के उपसंहार में भगवान के कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुतिविहित कर्ममार्ग में यज्ञ, दान तथा तपस्या के द्वारा जो जो फलप्राप्ति होती हैं, उन सभी को निष्काम कर्मयोगी तथा परमेश्वर में ध्याननिष्ठ योगी प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो परमानन्द स्वरूप परमपद प्राप्त होने पर सभी दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है एवं संसार में और पुनरावर्तन नहीं होता है, वह भी परमेश्वर की उपासना तथा उनकी प्रीति के लिए अनुष्ठित निष्काम कर्मों से अन्त में प्राप्त होता है।''

इस प्रकार यह 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त होता है। **(समाप्त)**

पृष्ठ ५६६ का शेष भाग

सहेलियों से विवादों से उबरना सिखाया। मेरे दादाजी ७५ की उम्र में भी कार चलाते हैं और मुझे भी उन्होंने गाड़ी चलाना सिखाया, उन्होंने मेरा लर्निंग लाइसेन्स बनावाने में सहायता की। मुझें बैंकिंग की जानकारी दी और बहुत-से विद्वानों और सन्तों से मिलाया। हमें अपने साथ घुमाकर बहुत-सा व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया। संयुक्त परिवार जीवन का आधार है। मैं अपने मित्रों से अनुरोध करती हूँ कि वे जितना समय फेसबुक, व्हाट्सएप, इन्टरनेट, टी. वी. पर देते हैं, उसका एक चौथाई समय अपने दादा-दादी को अवश्य दें, क्योंकि उनसे स्नेह, मनोरंजन, ज्ञान और अच्छे संस्कार मिलेंगे। OOO

राष्ट्र-विकास

स्वामी मेधजानन्द

स्वाधीनता के खुले आकाश में ही व्यक्ति चैन की साँस ले सकता है, मौलिक चिन्तन कर सकता है और दूसरे देशों के सम्मुख गरिमापूर्वक खड़ा हो सकता है। हम जानते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हमारे देशवासियों को कितना संघर्ष करना पड़ा। सहस्रों लोगों ने जब बलिदान दिया, तब हमें स्वाधीनता मिली। वह समय था, जब देश के लिए मर-मिटने वालों की आवश्यकता थी। देश के अधिकांश लोगों के सामने यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार हमें अपने देश को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराना है।

स्वतन्त्रता के बाद भी हमारे देश ने कुछ लड़ाइयाँ लड़ीं। इन लड़ाइयों में हमारी सेना के जवानों ने अपने अभूतपूर्व शौर्य से अपने देश की आन-बान और शान को बनाए रखा। अपने प्राणों का त्यागकर उन्होंने हमारे तिरंगे को झुकने नहीं दिया। आज भी दिन-रात जब वे सीमा पर पहरा देते हैं, तब हम चैन की नींद सोते हैं। देश की बाह्य सुरक्षा का भार हमारे जवानों के कन्धों पर है। किन्तु देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक इत्यादि सुरक्षा का भार प्रत्येक देशवासी पर है। देश के लिए मरने के साथ-साथ हमें देश के लिए जीना भी आना चाहिए।

एक छोटा-सा सरल उदाहरण लेते हैं। भारत-पाकिस्तान के विश्व-कप का फाइनल क्रिकेट मैच होता है। उस समय हम देखते हैं कि सड़कें सुनसान हो जाती हैं, लोग अपने बाकी के काम-काज शीघ्रतापूर्वक पूर्ण कर मैच देखते हैं। सभी भारतवासियों की यही अपेक्षा रहती है कि किसी भी प्रकार हम इस खेल में विजयी हों। भले ही यह एक खेल मात्र है, किन्तु हम चाहते हैं कि इसमें भी भारत का स्थान शीर्ष पर हो। अन्य खेल जैसे कि हॉकी, बैडमिन्टन अथवा ओलम्पिक्स में जब कोई भारतीय अव्वल नम्बर प्राप्त करता है, तब सभी भारतवासियों का सिर गर्व से ऊँचा हो जाता है।

इसी प्रकार विज्ञान, तकनीकी एवं अन्य क्षेत्रों में यदि हम विकसित नहीं होंगे, तो हमें अन्य देशों का मुँह ताकना होगा। वैश्विक स्तर पर हम बहुत पिछड़े हो जाएँगे। यह देश की आन्तरिक एवं बाह्य, दोनों सुरक्षाओं के लिए भी खतरा है। इसलिए हमें चाहिए कि हम मानवीय मूलभूत आवश्यकताओं के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ें। ऐसा तभी होगा कि जब प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि उसके प्रत्येक कार्य पर न केवल उसका, उसके परिवार का, अपितु सम्पूर्ण देश का भवितव्य निर्भर करता है। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी अपनी अद्भुत कार्यक्षमता और कौशल द्वारा अपने समाज, शहर और देश का नाम उज्ज्वल कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने लगभग १२० वर्ष पहले कहा था, "एक नवीन भारत निकल पड़े – हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों के कुटीरों से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकल पड़े झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों से।" हमारी वर्तमान सरकार स्किल इंडिया एवं अन्य प्रकल्पों द्वारा ऐसे अनेक युवाओं को सहायता प्रदान कर रही है, जो प्रगति तो करना चाहते हैं, किन्तु आवश्यक संसाधनों से वंचित हैं।

राष्ट्र-विकास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम कोई बड़ा कार्य करने की शुरुआत करें। एक छोटी-सी शुरुआत भी यदि उत्साहपूर्वक और निष्ठा के साथ की जाए, तो उसका फल अवश्य लाभदायी होता है। हम देखते हैं कि हमारे देश में बड़े-बड़े उद्योगों की शुरुआत छोटे कार्यों से हुई है। १८८३ में स्वामी विवेकानन्द और जमशेदजी टाटा की जब जापान के मार्ग में अप्रत्याशित भेंट हुई, तब स्वामीजी ने उनके वहाँ आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा कि वे दियासलाई यहाँ से लेकर भारत में आयात करते हैं। तब स्वामीजी ने कहा कि यदि वे दियासलाई का कारखाना भारत में खोलते हैं, तो इससे भारत की सम्पत्ति भारत में ही रहेगी और अनेक लोगों को रोजगार भी प्राप्त होगा। इसके साथ ही उन्होंने जमशेदजी के साथ भारत में एक रिसर्च केन्द्र के बारे में चर्चा की थी, जहाँ विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में अनुसन्धान किया जा सके। इसके बाद हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ साइन्स की स्थापना के लिए सहायता भी की थी।

भवन के निर्माण में उसकी प्रत्येक ईंट का महत्त्व होता है। हम भी अपने चरित्र और प्रतिभा के बल पर देश के सर्वांगीण विकास के लिए प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ें। ○○○

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (२३)

स्वामी भास्करानन्द

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

दूध पीना है या साधना करनी है?

स्वामी विदेहानन्द (१९०६-१९८४) गंगाचरण महाराज के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने कहा था, "मैं सौभाग्यशाली था कि अनेक वर्षों तक एक ब्रह्मज्ञानी संन्यासी के साथ रहा।"

तब मेरी आयु तीस वर्ष से अधिक थी और गंगाचरण महाराज साठ वर्ष के होंगे। मैंने उनसे पूछा, "वे ब्रह्मज्ञानी संन्यासी कौन थे?"

गंगाचरण महाराज ने कहा, "मैं पूजनीय स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज की बात कर रहा हूँ। वे ही वह ईश्वरानुभूति-सम्पन्न साधु थे। जब मैं कनिष्ठ संन्यासी था, तब मैंने राँची मोराबादी आश्रम में उनके साथ कुछ वर्ष व्यतीत किये थे। तब वे वहाँ के सचिव थे।"

मैंने पूछा, "आपको कैसे ज्ञात हुआ कि वे ब्रह्मज्ञानी हैं?

गंगाचरण महाराज ने कहा, "हमलोग उनके आदर्श आध्यात्मिक जीवन के बारे में जानते थे और यह सुना था कि उन्हें ईश्वर-दर्शन हुआ था। लेकिन हमलोग इसकी वास्तविकता जानना चाहते थे। एक दिन साधुओं की सन्ध्या-कक्षा में हमलोगों ने उनसे पूछा, "महाराज, क्या आपको ईश्वर-दर्शन हुआ है?"

"पहले तो वे हमारे प्रश्न का उत्तर देने के लिए अत्यन्त अनिच्छुक थे। लेकिन हमलोग भी छोड़नेवाले नहीं थे। हम लोग विनम्रता से सत्य बताने के लिये उनसे निवेदन करते रहे। अन्ततः उन्होंने हमारा अनुरोध स्वीकार किया। उन्होंने कहा, १९१७ ई. में वे (स्वामी विशुद्धानन्द) और स्वामी माधवानन्द महाराज वाराणसी में कुछ दिनों के लिए तपस्या कर रहे थे । उस समय उनके (स्वामी विशुद्धानन्द के) मन में ईश्वर-दर्शन की तीव्र व्याकुलता हुई। उन्होंने सुना था कि सन्त तुलसीदास जी को चित्रकूट पर्वत पर ईश्वर का दर्शन हुआ था, जो वाराणसी से अधिक दूर नहीं है। इससे उनके मन में चित्रकुट-दर्शन करने की इच्छा अधिक प्रबल हो गई।

"वहाँ पहुँच कर वे एक स्थानीय पण्डा के घर में रहने लगे। प्रथम दिन ही जब वे अपने कमरे में जाग्रतावस्था में लेटे हुए थे, तब उन्हें ईश्वर-दर्शन हुआ। इस दर्शन ने उन्हें तीव्र आध्यात्मिक आनन्द से अभिभूत कर दिया। वह आनन्द निरन्तर तीन दिनों तक बना रहा।"

स्वामी विशुद्धानन्द महाराज श्रीमाँ सारदा देवी के आरम्भिक शिष्यों में से एक थे। जब वे युवा संन्यासी थे, तभी श्रीरामकृष्ण के एक महानतम शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज ने उनके मन की उच्च आध्यात्मिक अवस्था को जान लिया था। एक बार रामकृष्ण संघ के संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज ने युवा संन्यासी स्वामी विशुद्धानन्द को स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज के सहायक के रूप में मद्रास मठ में भेजा। स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज ने स्वामी विशुद्धानन्द का परिचय देते हुए स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज को पत्र लिखा, "मैं एक ऐसे संन्यासी को भेज रहा हूँ, जिसका मन सर्वदा ईश्वर में लीन रहता है।"

उपरोक्त घटना के अतिरिक्त गंगाचरण महाराज ने हम लोगों को स्वामी विशुद्धानन्द महाराज के बारे में दूसरी बड़ी रोचक घटना बताई थी। एक दिन एक मारवाड़ी व्यापारी विशुद्धानन्द महाराज से मिलने के लिए राँची मोराबादी आश्रम में आया। वह आश्रम में साधुओं के लिए दूधारू गाय दान देना चाहता था। तब आश्रम की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। विशुद्धानन्द महाराज को पेट के अल्सर से कष्ट हो रहा था। चिकित्सक ने उन्हें पथ्य में दूध पीने के लिए कहा था। लेकिन आश्रम में आर्थिक अभाव के कारण उनके लिए अधिक दूध खरीदना सम्भव नहीं था, अन्य साधुओं हेतु दूध की तो कोई बात ही नहीं थी। अतः दूधारू गाय का दान में मिलना, मानो ईश्वर द्वारा प्रेषित था।

स्वामी विशुद्धानन्द महाराज ने सभी साधुओं को एकत्र बुलाकर कहा, "ये सज्जन हम लोगों को एक दूधारू गाय दान देना चाहते हैं। यदि हम लोग यह दान लेते हैं, तो तुम लोगों के साथ एक नया दायित्व जुड़ जायेगा। तुम लोगों को गाय की देखभाल करनी पड़ेगी। इसके कारण तुम लोगों को ध्यान और अन्य आध्यात्मिक साधनाओं के लिए कम समय मिलेगा । अतः मैं तुम लोगों से इन दोनों में से एक का चयन करने के लिए कहता हूँ – क्या तुम लोग दूध पीना चाहते हो या तुम लोग अपनी आध्यात्मिक साधना करना चाहते हो?"

साधुओं ने कहा, "महाराज, दूध पीने की अपेक्षा हम

लोग आध्यात्मिक साधना करना ही अधिक पसन्द करेगें?''

संन्यासियों के इस उत्तर से विशुद्धानन्द महाराज बहुत आनन्दित हुए। तदनन्तर उन्होंने व्यापारी से कहा, ''क्षमा करो । हम लोग गाय नहीं ले सकते। इसके बदले मैं तुम्हें यह परामर्श दे सकता हूँ कि तुम संन्यासियों हेतु दूध खरीदने के लिए कुछ रुपये प्रत्येक महीने दिया करो?''

हिन्दू परम्परानुसार साधुओं को दूधारू गाय दान देने से बहुत पुण्य मिलता है। व्यापारी विशुद्धानन्द महाराज के परामर्श से विश्वस्त नहीं था कि उसे वही पुण्य प्राप्त होगा। अत: वह असहमत होकर आश्रम से चला गया।

स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के आठवें संघाध्यक्ष हुए।

एक सच्चे कर्मयोगी

फीजी के नडी शहर में चेन्नैया गौन्डेर के घर में रामकृष्ण मिशन आश्रम, नडी के सचिव स्वामी रुद्रानन्द महाराज (१९०१-१९८५) विशिष्ट अतिथि थे। मध्यरात्रि थी। रामकृष्ण मिशन आश्रम के लिए कल जो महाविपत्ति आयी थी, उसकी चिन्ता से उद्विग्न चेन्नैया तीन घण्टों से अनिद्रा के कारण अपनी शय्या पर करवटें बदल रहे थे। आश्रम में मात्र एक आवास-भवन था, जो कल जलकर भस्म हो गया। रात्रि के निस्तब्धता में चेन्नैया अपने बगल के कमरे में सोये हुए स्वामी रुद्रानन्द की नियमित, शान्त साँस की आवाज सुन सकते थे। महाराज को चेन्नैया के घर में रहना पड़ा, क्योंकि आश्रम में लगी आग ने उनको निराश्रय कर दिया था।

अनेक वर्ष पूर्व फिजी के अप्रवासी भारतीयों के निमन्त्रण पर स्वामी रुद्रानन्द महाराज भारत से फिजी आये और नडी में उन्होंने एक उच्च विद्यालय प्रारम्भ किया था। यह विद्यालय ब्रिटिशों की ईख की खेती में कार्यरत भारतीय मजदूरों के बच्चों के लिए प्रारम्भ किया गया था। मजदूरों की शिक्षा के विचार से ब्रिटिश डर गये। उन्हें भय हुआ कि मजदूरों के शिक्षित बच्चे अन्य प्रकार की नौकरी चाहेंगे, जिससे भविष्य में मजदूर नहीं मिलेंगे। इसलिये प्रकट या गुप्त रूप से वे एवं उनके मित्र कई वर्षों से महाराज को परेशान कर रहे थे। आश्रम-भवन में हुई आगजनी की घटना संदिग्ध जैसी थी।

अनिद्रा से शय्या पर करवटें बदल रहे चेन्नैया को स्मरण आया कि महाराज ने वर्षो तक कितने कठोर परिश्रम एवं प्रेम से आश्रम को बनाया एवं विद्यालय को चलाया। चेन्नैया सदैव ही रुद्रानन्द महाराज के उत्साही सहयोगी और प्रशंसक थे। जब महाराज का सुन्दर आश्रम आग से जलकर भस्म हो गया था, तब चेन्नैया ने अपने घर में एक सम्माननीय अतिथि के रूप में रहने के लिए महाराज को निमन्त्रण दिया। चेन्नैया को चिन्ता थी कि महाराज को आश्रम का पुनर्निर्माण करने के लिए न जाने कितना समय लगेगा।

चेन्नैया को रातभर नींद नहीं आयी, क्योंकि वे महाराज के बारे में चिन्तित थे। यद्यपि वे विस्मित थे कि उनके बगल वाले कमरे में महाराज स्वयं शान्ति से निद्रामग्न थे। जिस आश्रम-भवन को बनाने के लिए महाराज ने कई वर्षों तक कठोर परिश्रम किया, उसके विध्वंस हो जाने से, मानो उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। चेन्नैया ने पढ़ा था कि कर्मयोगी किसी भी वस्तु से आसक्त नहीं होते हैं। वे बिना किसी फलाकांक्षा से कर्म करते हैं। चेन्नैया निस्सन्देह समझ गए कि स्वामी रुद्रानन्द जी महाराज एक सच्चे कर्मयोगी थे।

सुबह हुई, अपनी दिनचर्या के अनुसार रुद्रानन्द महाराज जग गये, उन्होंने ध्यान किया और नाश्ते के लिए कमरे से बाहर आये। वे स्वस्थ एवं विश्राम किये हुए दिख रहे थे। जब उन्होंने चेन्नैया को देखा, तो उत्साहपूर्वक कहा, ''चेन्नैया, ऐसा लगता हैं कि हमारे सामने बहुत-सा कार्य पड़ा है। हम लोगों को आश्रम बनाने के लिए पुन: कार्य प्रारम्भ करना है। मुझे पूर्ण विश्वास हैं कि श्रीरामकृष्ण अवश्य हमारी सहायता करेंगे।

अपने मित्रों एवं शुभचिन्तकों की आर्थिक सहायता से रुद्रानन्द महाराज पुन: आश्रम बनाने में सफल हुए। नया भवन पूर्व के भवन से अधिक अच्छा था। नया भवन सीमेंट से बना एवं पूर्णरूप से अग्निरोधक (fire-proof) था। आश्रम द्वारा संचालित यह उच्च विद्यालय फिजी के श्रेष्ठ विद्यालयों में से एक है।

स्वामी प्रभानन्द महाराज (प्रथम) विषयक स्मृतियाँ

स्वामी प्रभानन्द (१९०१-१९३८) केतकी महाराज के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने रामकृष्ण संघ के इतिहास में अतुलनीय समर्पित जीवन व्यतीत किया था। जब मैं पाँच वर्ष का था, तब उन्हें शिलाँग में देखा था। वे हमारे पड़ोसी स्नेहलता धर के मकान में अतिथि थे। उस समय वे पूर्णत: शय्याग्रस्त थे और एक प्रकार के रोग (virus-related muscular atrophy) से कष्ट पा रहे थे। उस समय इस रोग का कोई उपचार नहीं था। कुछ नवयुवक उनकी सेवा और

अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की देखरेख करते थे।

प्रतिदिन बहुत से दर्शनार्थी पुरुष एवं महिलाएँ केतकी महाराज को देखने के लिए आते थे। छोटे बच्चे महाराज को परेशान करेंगे, इसलिये बड़े लोग छोटे बच्चों को उनके कमरे में नहीं जाने देते थे। जब आसपास कोई नहीं रहता, तो मैं कभी-कभी छिप-छिपकर उनके कमरे में चला जाता और दूर से उनको देखता था। मुझे उनके कमरे में ओषधि की गन्ध आती थी, शायद उनके शरीर पर मालिश किए गए कोई मलहम की हो। जैसे ही मैं उनके कमरे में जाता, वे मुझे देखकर मुस्कुराते थे। वे मुझसे कोई वार्तालाप आदि नहीं करते थे। वे केवल मुस्कराते थे। तब मैं लज्जा कर शीघ्र कमरे से भाग जाता था।

युवावस्था में ही मैं साधु बनने के लिये सोचने लगा। तब मुझे केतकी महाराज की याद आई। उनके स्मरण से मुझे बड़ा मनोबल और प्रेरणा मिली। उनके असाध्य रोग में भी मुझे उनकी अद्भुत मन को जीतनेवाली मुस्कुराहट की याद आई। मृत्यु को चुनौती देनेवाले उनके साहस का स्मरण हुआ, जो केवल सन्त ही कर सकते थे।

तब तक मैं उनके द्वारा किये जा रहे खासी पर्वत पर आश्चर्यजनक लोकोपकारी कार्यों के बारे में भी सुन चुका था। १९२७ ई. में रामकृष्ण मिशन के द्वारा उनको खासी पर्वत पर आदिवासियों में कार्य करने के लिए भेजा गया था। तब उनकी आयु मात्र २७ वर्ष थी। दस वर्ष कठिन परिश्रम कर उन्होंने शेला, चेरापुँजी एवं शिलाँग में रामकृष्ण आश्रम स्थापित किया।

केतकी महाराज ने खासी पर्वत पर पहुँचने के केवल तीन महीनों के अन्दर ही खासी भाषा सीख ली। उन्होंने पहले शेला में रात्रि पाठशाला प्रारम्भ की, जो बाद में छः कक्षा तक जूनियर हाई स्कूल हुई। महाराज ने चेरापुँजी में भी एक उच्च विद्यालय प्रारम्भ किया एवं खासी भाषा में कुछ पाठ्यपुस्तकें लिखीं। उन्होंने चेरापुँजी में जो शैक्षणिक सेवा प्रारम्भ की, उससे उन्हें स्थानीय ईसाईयों के विरोध का सामना करना पड़ा, क्योंकि कोई हिन्दू संस्था यहाँ विद्यालय आरम्भ कर सकती है, वे लोग सोच भी नहीं सकते थे। उनके विरोध के उत्तर में केतकी महाराज ने शीघ्र चेरापुँजी के विशिष्ट व्यक्तियों, ईसाई और गैर-ईसाई दोनों को मिलाकर एक समिति गठित कर विद्यालय के संचालन का कार्य उन्हें सौप दिया और यथासम्भव स्वयं उसके पीछे रहे। इस बुद्धिमानी से उन्हें बड़ी सफलता मिली।

शेला गाँव खासी पर्वत के नीचली पहाड़ी पर स्थित है, जबकि शेला गाँव से चेरापुँजी शहर लगभग ३५०० फिट की ऊँचाई पर अवस्थित है। तब चेरापुँजी और शेला के बीच में वाहन के लिए कोई उपयुक्त सड़क नहीं थी। लोगों को शेला से चेरापुँजी जाने के लिए पैदल ३००० फिट की चढ़ाई करनी पड़ती थी। यह यात्रा दुरूह पहाड़ी ढलान की चट्टानों पर सैकड़ों सोपानों से होकर गुजरती थी। यहाँ तक कि स्थानीय व्यक्तियों के लिए भी इतने सारे सोपानों पर चढ़ना बहुत कठिन था। लेकिन केतकी महाराज चेरापुँजी में विद्यालय की देखरेख करने के लिए बार-बार कभी-कभी एक सप्ताह में तीन या चार बार आवागमन करते थे। कभी-कभी वे सुबह चेरापुँजी जाते और उसी दिन सन्ध्या को शेला वापस आ जाते।

मैं १९६० में चेरापुँजी आश्रम में ब्रह्मचारी के रूप में लगभग एक वर्ष तक था। शेला के एक वयस्क सज्जन शागेन बाबू से मेरी भेंट हुई थी, जो केतकी महाराज को जानते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि वे लोग केतकी महाराज का सप्ताह में कई बार चेरापुँजी के लिये अलौकिक चढ़ना-उतरना देखकर विस्मित हो जाते थे। केतकी महाराज का खासियों के प्रति महान प्रेम के प्रसंग में वार्तालाप करते हुए शागेन बाबू की आँखों से आँसू झरने लगे।

केतकी महाराज जिनकी सेवा करने आए, उनके साथ अच्छी तरह घुल-मिल गये। वे उनलोगों के साथ रहते थे, खाना खाते थे और उनके सुख-दुख को बाँटते थे। उन्होंने उनलोगों को आत्मनिर्भर होने के लिए शिक्षित किया और श्रीरामकृष्ण के जीवन एवं उपदेश के द्वारा प्रदर्शित सर्वधर्म-समन्वय का उपदेश दिया। उन्होंने उन्हें अनासक्त होकर शिक्षित करने का प्रयत्न किया। यह प्रेरणा उन्हें 'रामकृष्ण मिशन' के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द से प्राप्त हुई। स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना अभिनव सर्वत्यागी संन्यासियों का समूह निर्माण करने के लिए की थी, जिनका उद्देश्य था – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपनी मुक्ति और जगत का कल्याण)। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कुछ कनिष्ठ साधुओं को कहा था, "मैं तुम सबको बहुत अधिक प्रेम करता हूँ, तथापि मैं चाहता हूँ कि तुम लोग दूसरों की सेवा करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाओ। उससे मुझे अधिक आनन्द होगा।" **(क्रमशः)**

संपत्तिदेवो भव

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

संसार के दुखों में दरिद्रता महादुख है। यह एक ऐसा दुख है, जो अन्य अनेक दुखों को जन्म देता है। दुखों से छुटकारा पाने का सरल उपाय यही है कि हम दरिद्र न रहें। संपत्तिवान् होकर ही मनुष्य दरिद्रता से बच सकता है। संपत्ति हमें अभावों से मुक्त कर देती है और अभावों से मुक्ति का नाम ही सुख या तृप्ति है।

साधारणत: हमारी धारणा है कि धन ही संपत्ति है। नि:सन्देह वह भी संपत्ति की बहुविध विभूतियों में से एक है, किन्तु वह स्वयं संपत्ति नहीं है। संपत्ति तो वह क्षमता है, जो सभी प्रकार के अभावों को दूर कर सके। इस कसौटी पर जब हम धन को कसते हैं, तब हम पाते हैं कि धन में अभावों को दूर करने की यह क्षमता प्राय: नहीं-सी है। संसार में कितने ही ऐसे धनी-मानी लोग हैं, जो धनवान होकर भी असन्तुष्ट हैं, अतृप्त हैं, दुखी हैं। कोई व्यक्ति चाहे लखपति या करोड़पति ही क्यों न हो, यदि दुर्भाग्य से उसका पुत्र मर जाय तो वह संपत्ति, जिसे हम धन कहते हैं, उसे पुत्र-शोक से नहीं बचा सकती। उसी प्रकार निन्दा, ईर्ष्या, छल आदि के दुखों से मनुष्य धन के द्वारा नहीं बच सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धन अपने आप में संपत्ति नहीं है।

संपत्ति का दूसरा आवश्यक गुण है – अक्षयता। सच्ची संपत्ति का कभी नाश नहीं होता। धन तो बरसात की धूप के समान है, जो अभी है, तो दूसरे क्षण नहीं। वह तो अधिक से अधिक हमारे इस लोक के जीवन तक ही हमारे साथ रह सकता है। शरीर के साथ-साथ धन का भी अन्त हो जाता है, किन्तु शरीर के साथ जीवन का अन्त नहीं होता। सच्ची संपत्ति तो वह है, जो इहलोक और परलोक, सभी जगह हमारे साथ रहे।

भगवान श्रीकृष्ण ने विस्तारपूर्वक गीता में इसकी चर्चा की है। वे कहते हैं –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति: ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
तेज: क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।

(१६.१-३)

अर्थात् भय का सर्वथा अभाव, अन्त:करण की स्वच्छता, ज्ञान और योग में दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवत् पूजा आदि यज्ञ रूपी कर्म, कष्ट, सहिष्णुता आदि तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्त्व, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न करना, सब जीवों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, दुष्कर्म करने में लज्जा, अचपलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी के प्रति द्रोह न करना, निरभिमानता आदि छब्बीस लक्षण संपत्ति के घटक बताए गये हैं। इन्हीं गुणों की प्राप्ति के द्वारा ही हम संपत्तिवान हो सकते हैं।

संपत्ति के स्वरूप को स्पष्ट जान लेने के पश्चात् हमें यह जानना आवश्यक है कि हम किस प्रकार इन गुणों को प्राप्त करें? इसके लिए भगवान श्रीकृष्ण ने हमें अभ्यास-योग का सरल मार्ग बताया है। इन सब गुणों के विपरीत अनेक ऐसे दुर्गुण हैं, जो हमें दरिद्र बना देते हैं। इनसे बचने का एक ही उपाय है कि हम लोग निरन्तर अपने चरित्र में इन सद्‌गुणों को उतारने का प्रयास करें और धीरे-धीरे दुर्गुण रूपी सारी दरिद्रता को त्यागकर, उस अचल संपत्ति के अधिकारी हो जायँ, जो जन्म-जन्मान्तर में भी हमारे साथ रहेगी।

आइये इसी संपत्ति देव की उपासना करके हम प्रेम, दया, सहानुभूति आदि अमूल्य रत्नों को प्राप्त करें और सदैव इस मंत्र का जाप करें – 'संपत्तिदेवो भव'। ○○○

मनुष्य और पशु में यही अन्तर है – मनुष्य में चित्त की एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में अन्तर के कारण ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न होता है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति की तुलना ऊँचे-से-ऊँचे व्यक्ति से करो। अन्तर मन की एकाग्रता की मात्रा में होता है। बस, यही अन्तर है।

– स्वामी विवेकानन्द

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निः प्रतप्तायसपिण्डवत् ।।६२।।

पदच्छेद – *स्वयम् अन्तः बहिः व्याप्य भासयन् अखिलम् जगत् ब्रह्म प्रकाशते वह्निः प्रतप्त-आयस-पिण्डवत् ।*

अन्वयार्थ – **ब्रह्म** ब्रह्म **अखिलम्** सम्पूर्ण **जगत्** जगत् को **अन्तः** भीतर (और) **बहिः** बाहर से **व्याप्य** व्याप्त करके (उसे) **भासयन्** प्रकाशित करता हुआ, **स्वयम्** स्वयं **प्रकाशते** प्रकाशित होता है; **वह्निः** अग्नि, **प्रतप्त-** तपे हुए **आयस-** लोहे के **पिण्डवत्** गोले के समान (उसे भीतर और बाहर से तप्त करती हुई स्वयं भी तपती रहती है) ।

श्लोकार्थ – ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् के भीतर और बाहर से व्याप्त होकर, उसे प्रकाशित करता हुआ, स्वयं (भी) प्रकाशित होता है; जैसे अग्नि, तपे हुए लोहे के गोले को भीतर और बाहर से तप्त करती हुई स्वयं भी तपती रहती है ।

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।।६३ ।

पदच्छेद – *जगत् विलक्षणम् ब्रह्म ब्रह्मणः अन्यत् न किञ्चन ब्रह्मान् यत् भाति चेत् मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।*

अन्वयार्थ – **ब्रह्म** ब्रह्म **जगत्** जगत् से **विलक्षणम्** भिन्न है, **ब्रह्मणः** ब्रह्म से **अन्यत्** भिन्न **न किञ्चन** कुछ भी नहीं है, **चेत्** यदि **ब्रह्म** ब्रह्म से **अन्यत्** भिन्न (कुछ) **भाति** प्रतीत होता है, (तो वह) **मरु-मरीचिका** मृग-मरीचिका **यथा** के समान **मिथ्या** मिथ्या है ।

श्लोकार्थ – ब्रह्म जगत् से भिन्न है, (परन्तु यहाँ) ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है, यदि ब्रह्म से भिन्न (कुछ) प्रतीत होता है, (तो वह) मृग-मरीचिका के समान मिथ्या है ।

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।।६४।।

पदच्छेद – *दृश्यते श्रूयते यत् तत् ब्रह्मणः अन्यत् न तत् भवेत् तत्त्वज्ञानात् च तत् ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दम्-अद्वयम् ।*

अन्वयार्थ – **यत्** जो कुछ भी **दृश्यते** देखने (तथा) **श्रूयते** सुनने में आता है, **तत्** वह **ब्रह्मणः** ब्रह्म से **अन्यत्** भिन्न **न तत् भवेत्** कुछ भी नहीं हैं । **च** और **तत्त्वज्ञानात्** तत्त्वज्ञान हो जाने पर (सब कुछ) **तत्** वह **सत्-चित्-आनन्दम्-** सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप **अद्वयम्** एकमात्र **ब्रह्म** ब्रह्म ही (प्रतीत होने लगता) है ।

श्लोकार्थ – जो कुछ भी देखने तथा सुनने में आता है, वह ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं हैं । तत्त्वज्ञान हो जाने पर सब कुछ वह सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप एकमात्र ब्रह्म ही प्रतीत होने लगता है ।

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ।।६५।।

पदच्छेद – *सर्वगम् सत्-चित्-आत्मानम् ज्ञान-चक्षुः निरीक्षते अज्ञान-चक्षुः न इक्षेत भास्वन्तम् भानुम् अन्धवत् ।*

अन्वयार्थ – **सर्वगं** सर्वव्यापी **सत्-चित्-** सत्-चित्-स्वरूप **आत्मानम्** आत्मा को **ज्ञान-चक्षुः** ज्ञान-दृष्टि से **निरीक्षते** देखा जाता है । **भास्वन्तम्** प्रकाशमान **भानुम्** सूर्य को **अन्धवत्** अन्धे के समान, **अज्ञान-चक्षुः** अज्ञान-दृष्टि से (उसे) **न इक्षेत** नहीं देखा जा सकता ।

श्लोकार्थ – सर्वव्यापी सत्-चित्-स्वरूप आत्मा को ज्ञान-दृष्टि से देखा जाता है । प्रकाशमान सूर्य को अन्धे के समान, अज्ञान-दृष्टि से (आत्मा को) नहीं देखा जा सकता ।

बुराई तो हर कोई दिखा सकता है । मानव समाज का सच्चा हितैषी तो वह है, जो इन कठिनाइयों से बाहर निकलने का उपाय बताये ।...हम लोगों ने बहुत व्याख्यान सुन लिये, बहुत सी संस्थाएँ देख लीं, बहुत से पत्र पढ़ लिये, अब तो ऐसा मनुष्य चाहिए, जो अपने हाथ का सहारा दे, हमें इन दुखों के बाहर निकाल दे । कहाँ है वह मनुष्य जो हमसे वास्तविक प्रेम करता है, जो हमारे प्रति सच्ची सहानुभूति रखता है? बस उसी मनुष्य की हमें आवश्यकता है ।

– स्वामी विवेकानन्द

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (१५)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

काल करे सो आज कर

"स्वामीजी ! मेरी बेटी पूरी रात सो नहीं पाती है। उसे बहुत तनाव हो गया है। जो पढ़ती है, उसे याद नहीं रहता है, इसलिये दिनभर चिन्ता करती रहती है कि 'अब परीक्षा में मैं क्या करूँगी?' रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी के पास एक महिला अपनी बेटी को लेकर आयी, जो बी. कॉम. के तृतीय वर्ष में पढ़ती थी। उसकी इच्छा थी कि बेटी को मार्गदर्शन मिले और उसका मानसिक तनाव दूर हो। उसने स्वामीजी को सारी बातें बतायीं।

बी. कॉम. तृतीय वर्ष की परीक्षा पन्द्रह दिन बाद प्रारम्भ होने वाली थी और अब उसने पढ़ना आरम्भ किया, तो उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था। स्वामीजी ने उसे फटकारते हुए कहा, "पूरे वर्ष मौज मस्ती की और अन्तिम समय में पढ़ने बैठोगी, तो याद कैसे रहेगा? आग लगने पर कुँआ खोदने जाते हैं क्या? यदि तुमने पूरे वर्ष पहले से नियमित अध्ययन, गृहकार्य किया होता, तो आज यह दशा नहीं होती।" उसकी परिस्थिति बताते हुए स्वामीजी ने कहा, "बेटी, अब भी तुम्हारे हाथ में पन्द्रह दिन हैं। चिंता करना छोड़ दो। कक्षा में प्रोफेसरों ने महत्त्वपूर्ण विषय बताएँ हों, तो उन्हें अच्छी तरह तैयार करना शुरू करो। निराश हुए बिना एकाग्रता से पढ़ोगी, तो याद रहेगा और तुम परीक्षा में अच्छे ढंग से लिख सकोगी।" वह छात्रा उत्साह के साथ लौटी और उनके कथनानुसार तैयारी करने लगी।

अधिकांश विद्यार्थियों का स्वभाव अन्तिम समय में कार्य करने का होता है। जब पर्याप्त समय होता है, इतनी जल्दी क्या है, आराम से करेंगे, कहकर काम टालते रहते हैं। बाद में सारे काम एक साथ इकट्ठे हो जाते हैं, उसमें कुछ काम तत्काल करने होते हैं, तब मस्तिष्क पर अधिक बोझ आ जाता है। वे हड़बड़ी में सब कार्य करते हैं, एक साथ कार्य करने से कोई भी कार्य ठीक से नहीं होता है। मन भी अशान्त हो जाता है। कार्य समय पर पूरा न होने से स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है।

जो लोग कार्यालय में अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर क्रोध करते हैं, तो घर में पत्नी और बच्चों पर गुस्सा निकलता है। इस प्रकार समय पर कार्य न होने से ऑफिस, घर और अपने मन की शान्ति खो देते हैं। इसलिए कार्य के बोझ से अपने मन को मुक्त रखना हो, मानसिक शान्ति बनाये रखना हो, तो जीवन में एक सूत्र अपनाना आवश्यक है – 'काल करे सो आज कर।' जो कार्य आज हो सकता है उसे कल पर नहीं टालना चाहिए।

आधुनिक विकासशील युग में मनुष्य को एक साथ कई कार्य करने पड़ते हैं, इसलिए मनुष्य को 'टाईम मेनेजमेंट' – समय-प्रबन्धन करना आवश्यक होता है। कम समय में तेजी से काम करने की शक्ति का विकास मनुष्य को करना पड़ेगा। इसके लिये प्रथम सूत्र है कि आज का कार्य आज ही कर डालो। कल कभी नहीं आता है। जो कार्यों को कल पर टाल देते हैं, वे फिर काल के प्रवाह में तैर नहीं सकते हैं। वे कार्य के बोझ के कारण डूब जाते हैं। समय का व्यवस्थित प्रबन्धन कर महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्राथमिकता देकर और अन्य कार्य को बाद में करने से बोझ नहीं लगता है। प्रमुख कार्य पहले और गौण कार्य बाद में करने से शक्ति का अपव्यय नहीं होता है और कार्य भी उत्तम प्रकार से सम्पन्न होते हैं।

हमें यदि कम समय में बहुत अधिक कार्य बिना किसी तनाव के शीघ्रता से करना हो, तो कैसे करें? इसके लिये स्टीफन कोवी अपनी पुस्तक 'द सेवन हेबिट्स आफ हाइली इफेक्टीव पीपल' में सातवीं आदत के विषय में एक उदाहरण देकर कहते हैं, "स्वयं की धार करते रहो।" एक लकड़हारा लकड़ियाँ काट रहा था। वह काटते-काटते बहुत थक गया। क्योंकि उसकी कुल्हाड़ी की धार समाप्त हो गयी थी, तो भी वह लकड़ी काटे ही जा रहा था। किसी समझदार आदमी ने उसे कहा, "तुम बहुत थक गये हो, कुछ देर विश्राम कर लो। अपनी कुल्हाड़ी की धार तेज कर लो, फिर तुम और अधिक लकड़ियाँ काट सकते हो।" तब लकड़हारा बोला, "तुम्हारी बात सच है भाई, पर तुम देख रहे हो न, कितना बड़ा ढेर पड़ा है ! आराम करूँ और धार तेज करने लगूँ, तो फिर ये लकड़ियाँ कब काटूँगा?" यह कहकर वह उसी बिना तेज धारवाली कुल्हाड़ी से लकड़ियाँ

काटता रहा। बहुत परिश्रम करता रहा, पर धार तेज करने का उसे समय नहीं था। अधिकांश लोग इस लकड़हारे जैसे होते हैं। बस, बिना धार की कुल्हाड़ी से लकड़ियाँ नहीं कटती हैं, फिर भी काटे जा रहे हैं। मन की धार तेज करने के लिये प्रार्थना और ध्यान के लिये १० मिनट का समय भी उनके पास नहीं है। सतत प्रवृत्ति, भाग-दौड़ और कार्य के भारी बोझ के नीचे उनकी कुल्हाड़ी की धार इतनी चली जाती है कि फिर लकड़ी तो क्या, एक पौधा भी नहीं काट सकते हैं। तनाव, चिन्ता, ब्लडप्रेशर, नर्वस ब्रेकडाउन आदि से मन टूट जाता है। ऐसी स्थिति आने के पहले मन की धार तेज करने के लिये समय निकाल लेना चाहिए। प्रार्थना, ध्यान, जप, कीर्तन आदि मन की शक्ति बढ़ाने के अमोघ साधन हैं। इसमें समय देने से, समय नष्ट नहीं होता है, अपितु मन की धार तेज होने से कम समय में तेजी से काम हो जाते हैं। मन शान्त होता है, एकाग्रता बढ़ती है। इससे जिस काम में पहले घंटों लगते थे, वह मिनटों में हो जाता है। इसके कारण चौबीस घंटों के समय में चार घंटे तेजी से काम करने के कारण बढ़ जाते हैं।

कम उम्र से ही मन को इस प्रकार सचेत करते रहना चाहिए, अर्थात् बचपन से ही प्रार्थना-ध्यान आदि की आदत डालनी चाहिए। परन्तु जब विद्यार्थियों को, युवकों को इस विषय में कुछ कहा जाता है, तो उनका उत्तर होता है, ''अभी तो कितना अधिक काम है, बिल्कुल समय नहीं है, बाद में करेंगे।'' बाद में करेंगे, यह नहीं करने का अच्छा बहाना है। 'समय नहीं है' – यह ट्रम्प कार्ड जिसे आज के अधिकांश लोग अपना रहे हैं। स्वामी विरजानन्दजी महाराज 'परमार्थ प्रसंग' पुस्तक में कहते हैं, ''जीवन तो आज है कल नहीं, क्षण में है और क्षण में नहीं, कौन कह सकता है कि तुम वृद्धावस्था तक जीने वाले हो और फिर उस अवस्था में भी तुम्हारे पास क्या समय होगा? इसलिए जो करना हो वह अभी कर लो। कल के लिये कुछ मत छोड़ो। कल कभी नहीं आनेवाला है।''

मन को शान्त और स्वस्थ रखने के लिये भगवान को प्रतिदिन केवल पन्द्रह मिनट दिये जाएँ, तो ये पन्द्रह मिनट समग्र जीवन को बदल डालेंगे। अत: इन पन्द्रह मिनटों को यथासम्भव शीघ्र भगवान को देना चाहिए। इसमें विलम्ब करने से स्वयं की कितनी बड़ी हानि होती है, यदि व्यक्ति को यह पता हो, तो वह एक क्षण भी विलम्ब नहीं करेगा। दुख की बात है कि उसे यह पता ही नहीं है। 'इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट' पुस्तक में थॉमस केम्पिस कहते हैं, ''अभी का समय बहुत ही मूल्यवान है। परन्तु दुख की बात है कि जिस समय में तुम सनातन जीवन जीने के लिए पुण्य इकट्ठा कर सकते हो, उसका अधिक सदुपयोग नहीं करते हो। फिर ऐसा समय आयेगा कि जब तुम सुधरने के लिए एक दिन या एक क्षण की इच्छा करोगे, तब वह तुम्हें मिलेगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता हूँ।'' इसी पुस्तक में आगे लिखा है, 'अभी तो बहुत जीना है, फिर आराम से भगवान का नाम लूँगा', ऐसा सोचनेवाले लोगों को संबोधित करके लिखा है, ''अरे मूर्ख, जहाँ तुझे एक दिन का भी ठिकाना नहीं है, वहाँ दीर्घजीवन का विचार क्यों करता है? कितने ही लोग इसी प्रकार ठगे गये हैं, और अचानक उनका जीवन छीन लिया गया है। सबका अन्त मृत्यु है, मानव का जीवन परछाई की तरह अचानक लुप्त हो जाता है, इसलिए, हे प्यारे, अभी तुमसे जितना हो सके, उतना कर लो, क्योंकि तू कब मर जाएगा, उसका तुझे पता नहीं है। मृत्यु के बाद तेरा क्या होगा, यह भी तू नहीं जानता । जब तक समय है, तब तक तू शाश्वत सम्पत्ति एकत्रित कर ले।''

यदि मनुष्य को शाश्वत सम्पत्ति, शाश्वत शान्ति चाहिए, तो प्रतिदिन भगवान का स्मरण करना चाहिए। इसमें 'आज नहीं करूँगा', ऐसा मनोभाव नहीं होना चाहिए। मन तो अनेक बहाने करके समय बिता देता है। इसलिए -

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होएगी, बहुरि करोगे कब?

इन पंक्तियों को याद रखकर कल पर भरोसा किये बिना यदि आज से ही मन को स्वस्थ और शान्त रखने के लिये भगवान की प्रार्थना-चिन्तन-मनन में लगा दें, तो संसार के दुख-कष्ट, तनाव और अशान्ति नहीं रहेगी। श्रीरामकृष्ण देव के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्दजी कहते हैं, ''...तो फिर तुम्हारा जीवन इतना सुन्दर सँवर जाएगा कि तुम्हें सांसारिक दुख-कष्ट किसी भी तरह से स्पर्श नहीं कर सकेंगे। बस, आनन्द, आनन्द ही रह जाएगा। तुम अपार आनन्द के अधिकारी बन जाओगे।'' **(क्रमशः)**

पवित्रता की शक्ति

स्वामी परमानन्द

(स्वामी परमानन्दजी स्वामी विवेकानन्द के शिष्य थे। अमेरिका में अनेक वर्ष रहकर उन्होंने वेदान्त का प्रचार किया। प्रस्तुत लेख एक आध्यात्मिक जिज्ञासु को लिखे उनके उपदेशों का अंश है।)

स्वामी परमानन्द

पवित्रता ही सच्ची शक्ति है, पवित्रता ही सच्चा आरोग्य है। इस स्रोत से अपनी शक्ति अर्जित करो। इसे कभी भी मत भूलो, तब तुम अमर हो जाओगे। पवित्रता तुम्हें निर्भय बना देगी, तुम्हें प्रफुल्ल बना देगी। बलवान होओ, शक्तिमान होओ, चाहे कोई भी कठिन परिस्थिति आ जाए। पवित्रता की शक्ति से समस्त दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करो। भगवान पर सच्चा विश्वास रखो और निर्भीकतापूर्वक आगे बढ़ते चलो। वे तुम्हारी सदैव रक्षा करेंगे।

पवित्रता से तुम जो कुछ भी करोगे, वह कीर्तिमान होगा। इसलिए भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। यह पवित्रता ही मुख्य है। ईश्वर की कृपा से ही इसे हम सीखते हैं। ईश्वर की शक्ति महान है और पवित्रात्मा में ही वह प्रकट होती है। वे सदा तुम्हें सत्पथ पर परिचालित करेंगे । दृढ़ता से कार्य करो, दुर्बलता से नहीं। चरैवेति ! चरैवेति ! मार्ग तुम्हारे सामने है और तुम्हें लक्ष्य को प्राप्त करना ही है। नींद और आराम को छोड़कर उठो और जागो।

यदि तुम्हारे मन की पवित्रता का स्तर कभी धूमिल अथवा मलिन हो जाए, तो निराश मत होओ। वह हमेशा नहीं रहेगा। प्रचण्ड आँधी के बाद शान्ति आती है। ऐसे ही अशान्ति के बाद प्रशान्ति आती है। एक के बाद दूसरी स्थिति आती है, यही प्रकृति का नियम है। दुख के बिना हम सुख को नहीं समझ सकते। इसलिए हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हमारे जीवन में जो कुछ भी घटित होता है, उसका तात्पर्य यह है कि हम उसके द्वारा श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर सकें। अत्यधिक परिश्रम के बाद उसकी प्रतिक्रिया, क्लान्ति और दुर्बलता आना स्वाभाविक है। सच्चे भक्त के लिए यह परीक्षा की घड़ी है। जो दोनों अवस्थाओं में अपने विश्वास और पवित्र उद्देश्य पर डटकर अपना सन्तुलन और दृढ़ता बनाए रखता है, वही आदर्श चरित्र है। बाकी सब तो बालक के समान हैं। जब सब कुछ अनुकूल चल रहा होता है, तब कोई भी प्रसन्न रह सकता है, किन्तु सच्चा भक्त वही है, जो प्रतिकूल और विकट परिस्थितियों में भी अविचलित रहे। पवित्रता और श्रद्धा पर सुदृढ़ होओ, तब अवश्य ही बल प्राप्त होगा और मार्ग सहज हो जाएगा।

सच्चा भक्त कभी भी विश्राम नहीं चाहता। वह थोड़ा-सा भी स्वार्थ रहित होने और पवित्रता की झलक प्राप्त करने का सतत प्रयास करता है, जो प्रत्येक सच्चे चरित्र की आधारशिला है। सचमुच नि:स्वार्थ होना ही बड़ी महानता है। सम्पूर्ण निष्ठा और हृदय से नि:स्वार्थ और पवित्र बनने की प्रार्थना करो, क्योंकि यही मुक्ति प्राप्त करने का एकमेव मार्ग है। अन्य सभी मार्ग बन्धन की ओर ले जाते हैं।

नि:स्वार्थता और पवित्रता अभिन्न हैं। एक के रहने से दूसरी अपने आप आ जाती है। नि:स्वार्थ कर्म से हृदय पवित्र होता है और पवित्र हृदय में केवल प्रेम ही रहता है। वह अपार प्रेम एक बाढ़ के समान सब तुच्छताओं को बहाकर ले जाता है। उस हृदय में सांसारिक कुछ भी नहीं रह जाता। दुख, पीड़ा, ईर्ष्या, द्वेष अन्य जितनी भी सांसारिक बातें हैं, उनका अस्तित्व वहाँ नहीं रह पाता। मेरे विचार से यही 'भगवत्प्रेम' है और इसे ही मैं धर्म मानता हूँ।

इस प्रेम में डूब जाओ और अन्य सब कुछ भूल जाओ। दूसरे लोग क्या सोचते हैं, इसकी परवाह मत करो। केवल भगवान और भगवान का ही चिन्तन करो। इस बाह्य जगत का तुम्हारे मन से पूरी तरह लोप हो जाना चाहिए। यह समय है कि तुम उस प्रेम में मत्त हो जाओ। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "कोई धन के पीछे पागल है, कोई नाम-यश के पीछे", किन्तु तुम अपने इष्ट के लिए पागल हो जाओ। दृढ़ होओ। अपने विश्वास पर अडिग रहो और सतत आगे बढ़ते चलो। भय किस बात का है? तुम्हारे मन में किसी भी बात का भय नहीं होना चाहिए। निर्भय, प्रफुल्ल, पवित्र और दिव्य बनो। यह संसार देखे कि तुम ईश्वर की सन्तान हो। याद रखो कि तुममें अनन्त शक्ति विद्यमान है। कोई भी तुम्हें विचलित नहीं कर सकता, यह जानकर शक्तिशाली होओ। चाहे कुछ भी हो जाए, किन्तु तुम सदैव शान्त रहो। पवित्र हृदय में उद्विग्नता अथवा विषाद नहीं होता। तुम्हारा मुख सदैव उस शिशु के समान प्रफुल्लित हो, जो निश्चिन्त अपनी माँ की गोद में रहता है।

जब हृदय पूर्णत: पवित्र होता है, तभी सच्ची भक्ति आती है और तुम जानते हो कि किस प्रकार भक्ति हमें नि:स्वार्थ बनाती है। एक माँ की अपने बच्चे के प्रति स्नेहमयी भक्ति को देखो। वह स्वयं के विषय में सब कुछ भूल जाती है। केवल अपने बच्चे के कल्याण में ही वह व्यस्त रहती है। अपने बच्चे के लिए माँ कोई भी खतरा मोल लेने के लिए तत्पर रहती है। अपने सुख को त्यागकर भी वह अपनी सन्तान को हमेशा सुरक्षित रखने के लिए व्याकुल रहती है। इस प्रकार आदर्श हेतु स्वयं को और अपने स्वार्थ को भूल जाना ही नि:स्वार्थ बनने का एकमेव उपाय है। इसे ही सच्ची भक्ति कहते हैं।

हमें इस महान आदर्श के साथ सदैव आगे बढ़ना है। शरीर रहे या न रहे, इसकी परवाह मत करो। लोग क्या कहते हैं, इसकी भी परवाह मत करो। हमें अपने इष्टदेव की, जो हमारे स्वामी और भगवान हैं, उनकी पूजा करनी है। सम्पूर्ण हृदय से उनकी भक्ति करने से सुख और शान्ति प्राप्त होती है। नाम, यश अथवा प्रचुर धन-सम्पत्ति – अन्य किसी भी उपाय से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए फल की परवाह न करते हुए, हमें दृढ़तापूर्वक अपने इष्टदेव की आराधना करनी चाहिए। यही सच्चा धर्म है।

धर्म हमें पवित्रता, बल, निर्भयता और मन की शान्ति प्रदान करता है। धर्म एक अनुभूति है, अपने चरित्र का निर्माण है। किसी संस्था अथवा मन्दिर से जुड़ने मात्र से कोई सुखी नहीं हो जाता। सभी वस्तुओं को सही दृष्टिकोण से देखो। भय किस बात का है? ईश्वर हमारे लिए सर्वाधिक प्रेम करने वाली माँ के समान हैं। क्या वह माँ अपने बच्चे के लिए कभी अनिष्टकारी हो सकती है ? सच्चे बनो, धैर्य और पवित्रता का अभ्यास करो।

पवित्रता का अभ्यास करने के लिए तुम्हें सर्वप्रथम इन्द्रिय-संयम करना होगा । उसके बाद अपने मन को अपने इष्ट-देव पर लगाना होगा । इन्द्रिय-संयम के बिना तुम्हें सत्य की कुछ झलकें कदाचित् प्राप्त हो भी जाएँ, किन्तु वे स्थायी नहीं रहेंगी। सतत इन्द्रिय-संयम के द्वारा ही तुम अपनी सत्यानुभूति को बनाए रख सकते हो। इन्द्रिय-विषयों को भोगने वाला मन अपना विवेक खो बैठता है। जब तक वह विषय-भोग करेगा, चंचल और अशान्त रहेगा। किन्तु जब उसे समझ में आता है कि बाह्य जगत का प्रभाव ही सब अशान्तियों का कारण है और इन्द्रिय-संयम से ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है, तब वह बाह्य जगत से अपने मन को हटा देता है और उसका मन क्रमश: पवित्र होता है।

जब मन पवित्र हो जाता है, तब हम अपने वास्तविक स्वरूप अथवा अपने इष्टदेव को प्राप्त करते हैं। हमारा हृदय एक दर्पण के समान है। जब तक उसके ऊपर अपवित्रता की मैल है, तब तक वह सर्वभूतों में अवस्थित आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता। इसलिए आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए हृदय की पवित्रता अत्यावश्यक है।

सचमुच हृदय की पवित्रता ही सभी धर्मों का सार है। आन्तरिक शुद्धि के बिना केवल बाह्य शुद्धि के पालन से ही पवित्रता का भाव नहीं आ सकता। इसलिए बाह्य-शुद्धि की प्रक्रियाओं पर अधिक ध्यान देना नहीं चाहिए। यह समझ लो कि तुम पवित्र हो, स्वच्छ हो, चाहे तुम जल को छुओ अथवा न छुओ। भगवान का नाम लेने से ही सब पवित्र और स्वच्छ हो जाता है। श्रद्धा और निष्ठापूर्वक भगवान के पवित्र नाम का जप करो और सभी अशुद्धियाँ धुल जाएँगी। सदैव अपने मन को पवित्र वातावरण में रखो, अर्थात् सदैव पवित्र विचारों का चिन्तन करो और साधु-संग करो। तब पवित्रता तुम्हारे हृदय में प्रकाशित होगी।

सर्वोपरि अपने अहंभाव का त्याग करो। इससे अधिक अपवित्रता और कोई भी नहीं है। स्वार्थ और भ्रम का मैल जितना शीघ्र चित्त-दर्पण को मलिन करता है, उतना और कोई नहीं करता। यदि तुम सच्चे भक्त बनना चाहते हो, तो अन्धकार और बन्धन की ओर ले जाने वाले इस क्षुद्र अहं का तुम्हें त्याग करना होगा। जब तुम इस क्षुद्र 'मैं' का त्याग करोगे, तभी विराट 'मैं' प्रकाशित होगा और वह सम्पूर्ण विश्व को परिव्याप्त कर देगा। इस भाव का त्याग कर दो कि तुम कुछ हो। कार्य-अकार्य दोनों के अहं भाव का त्याग कर दो। किसी भी कार्य के श्रेय लेने की लालसा का पूर्णरूप से त्याग कर दो। तब तुम नि:स्वार्थ हो जाओगे। अपनी सभी स्वार्थ-केन्द्रित वासनाओं का त्याग कर दो, तब तुम अपने आदर्श को प्राप्त कर लोगे।

जब तुम अपने इष्ट की नि:स्वार्थ भाव से सेवा करते हो, तब तुम स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हो और वही वास्तविक कार्य है। इसके द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। इष्ट के प्रति ऐसी नि:स्वार्थ सेवा हृदय से सभी बन्धनों को काटकर पवित्रता प्रदान करती है।

OOO

समाचार और सूचनाएँ

मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव प्रचार परिषद का अर्द्धवार्षिक सम्मेलन सम्पन्न हुआ

२ और ३ सितम्बर, २०१७ को मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भावप्रचार परिषद का अर्धवार्षिक सम्मेलन श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई और माँ सारदा सेवा समिति, भिलाई के तत्त्वावधान में आयोजित हुआ। २ सितम्बर को कार्यक्रम ९ बजे संन्यासियों के दीप-प्रज्ज्वलन से आरम्भ हुआ। अतिथियों के स्वागत और भजन के बाद परिषद के संयोजक स्वामी तन्मयानन्द जी ने संक्षिप्त प्रतिवेदन पढ़ा। परिषद के अध्यक्ष स्वामी व्याप्तानन्द जी ने 'भाव प्रचार परिषद का लक्ष्य एवं हमारी उपलब्धियाँ – एक आत्मावलोकन' विषय पर और बेलूड़ मठ के प्रतिनिधि-निरीक्षक स्वामी सुखानन्द जी ने 'भाव प्रचार परिषद का उद्देश्य तथा हमारा कर्तव्य' पर व्याख्यान दिया, स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने आशीर्वचन दिये। उसके बाद १६ आश्रमों के प्रतिनिधियों ने प्रतिवेदन पढ़े। विधायी सत्र में विभिन्न विषयों पर चर्चा हुई। परिषद के पूर्व संयोजक हिमाचल मढ़रिया ने एकाउन्ट पर विशेष सुझाव दिये। परिषद का वार्षिक सम्मेलन रामकृष्ण कुटीर, अमरकण्टक में होने का निर्णय हुआ। तदनन्तर सभी प्रतिनिधियों ने माँ सारदा विद्यालय और रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई का भ्रमण किया। शाम ६.३० बजे से माँ सारदा विद्या मंदिर, भिलाई की छात्र-छात्राओं ने सुन्दर सांस्कृतिक कार्यक्रम की प्रस्तुति दी। ३ सितम्बर के भक्त सम्मेलन में स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी व्याप्तानन्द, स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी निर्विकारानन्द, स्वामी योगीश्वरानन्द, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने विभिन्न विषयों पर प्रवचन दिये। अन्त में रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई के सचिव पंकज कश्यप ने धन्यवाद दिया और 'रामकृष्ण शरणम्' भजन से सभा सम्पन्न हुई। परिषद की सभा में ४९ भक्त और १० संन्यासियों ने और भक्त सम्मेलन में कुल ८० भक्तों और १० संन्यासियों ने भाग लिया। सम्मेलन की व्यवस्था अच्छी रही।

भगिनी निवेदिता की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में **स्वामी विवेकानन्द पैतृक निवास** में २८ जुलाई से ९ अगस्त के बीच ४ व्याख्यान हुए, जिनमें १४१० भक्तों ने भाग लिया। इसी दौरान कोलकाता के तीन स्थानों पर व्याख्यान हुए, जिनमें १०० लोगों ने भाग लिया। **रामकृष्ण सेवाश्रम, वाराणसी** में २७ अगस्त को भक्ति-संगीत का आयोजन हुआ। **रामकृष्ण मिशन, सरिषा** में १ जुलाई को शिक्षक सम्मेलन हुआ, जिसमें कई विद्यालयों के ६५ शिक्षक सम्मिलित हुए। **सारदापीठ** ने बेलूड़ और रहड़ा के दो बालिका विद्यालयों में १७ और १८ अगस्त को सम्मेलन किया, जिसमें ५०० छात्राएँ और ५० शिक्षक थे। **रामकृष्ण मिशन, देवघर** ने ५००० भक्तों को श्रावणी मेला में ९ जुलाई से ७ अगस्त तक नींबू शरबत पिलाया। **रामकृष्ण मिशन, सेलम** में १३ जुलाई से १८ अगस्त तक छह विद्यालयों में छात्रों के लिये कार्यक्रम आयोजित हुए, जिसमें १४७२ छात्रों ने भाग लिया और २८ अगस्त के युवा शिविर में ९०० युवक सम्मिलित हुए। **चेन्नई मठ** के ११ अगस्त के युवा शिविर में २०० युवक उपस्थित थे। **रामकृष्ण मिशन, कोयम्बटूर** ने आसपास के ३ गाँवों में २ और १६ अगस्त को प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता और व्याख्यान आयोजित किये, जिसमें ३०२ लोगों ने भाग लिया। **रामकृष्ण मिशन, आँटपुर** के ३०जुलाई के युवा शिविर में १५३ युवकों ने भाग लिया।

राष्ट्रीय स्वच्छता अभियान के अन्तर्गत **रामकृष्ण मिशन, बाँकुड़ा, रामकृष्ण मिशन कोयम्बटूर** और **रामकृष्ण मिशन मैसूर** ने अपने परिसर और सार्वजनिक स्थानों की सफाई की तथा जनसम्पर्क कर स्वच्छता का प्रचार किया।

नि:शुल्क नेत्र-चिकित्सा शिविर का आयोजन

रामकृष्ण मिशन के १९ केन्द्रों – बाँकुड़ा, वर्धमान, चेन्नई मठ, दिल्ली, घाटशिला, अलसुर (बेंगलुरु), कामारपुकुर, कानपुर, लखनऊ, मदुरै, मायावती, मेदिनीपुर, पोरबंदर, राजमंद्री, राजकोट, राँची, सेलम, सेवा प्रतिष्ठान (कोलकाता) और सिल्चर ने शिविर आयोजित कर लगभग २५ हजार रोगियों की चिकित्सा की।

राहत कार्य – रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्रों – गोहाटी, कटिहार, लीमड़ी, राजकोट, वड़ोदरा, लखनऊ, आँटपुर, बेलघरिया, कूचबिहार, गौरहाटी, इच्छापुर, जयरामबाटी, मालदा, सारदापीठ, अलांग, दार्जिलिंग, नागपुर, ऊटी, चिटगांग आदि ने विभिन्न प्रकार के राहत-कार्य किये।

OOO